अकेलापन
और
निर्भरता



आचार्य प्रशांत

अकेला

और

नि

अकेलापन और निर्भरता

आचार्य प्रशांत

प्रशांतअद्वैत फ़ाउंडेशन



वेबसाइट: acharyaprashant.org

तुम दूसरे की संगत कर ही इसीलिए रहे हो न कि अकेलापन मिटे?

पर दूसरे की संगत अकेलापन नहीं मिटाती तुम्हारा।

दूसरे की संगत में तुमपर जो बेहोशी छाती है
वो तुम्हारा अकेलापन मिटाती है।

उस बेहोशी को अपने ऊपर छाने देना या न छाने देना चुनाव होता है।

आचार्य प्रशांत

सामग्रियाँ

आचार्य प्रशांत



इन लेखों के प्रवर्तक – या माध्यम – अद्वैत संस्थाओं के नेतृत्व, बोध सत्रों के आयोजन, आत्म-स्मरण शिविरों के नेतृत्व आदि में संलग्न रहते हैं। इस प्रक्रिया में ऐसे आध्यात्मिक साहित्य का सृजन हो रहा है जो मनुष्य द्वारा पढ़े गए उच्चतम शब्दों के समकक्ष है।

अनूठे हैं अस्तित्व के खेल। आपने प्रौद्योगिकी एवं प्रबंधन की शिक्षा आइ॰आइ॰टी॰ (भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, दिल्ली) एवं आइ॰आइ॰एम॰ (भारतीय प्रबंधन संस्थान, अहमदाबाद) से प्राप्त की। तदोपरांत आप प्रबंधक के तौर पर कुछ वर्षों तक, एवं भारतीय सिविल सेवा में कुछ सप्ताह तक रहे। परन्तु सत्य के आह्वान के समक्ष समस्त लब्धप्रतिष्ठ आकर्षण फीके पड़ जाते हैं। वर्षों की गहन आध्यात्मिक साधना के बाद आप कालातीत को समर्पित हो लिए और 'प्राज्ञ आध्यात्मिकता द्वारा एक नयी मानवता के सृजन' हेतु अद्वैत लाइफ़-एजुकेशन एवं प्रशांत-अद्वैत संस्थाओं की स्थापना की।

आज अद्वैत आन्दोलन के रूप में लाखों जनों के जीवन को छू चुका है। लोगों से सीधे संपर्क के अलावा इन्टरनेट आधारित अन्य माध्यमों के द्वारा भी संपृक्त होकर अद्वैत सभी

के लिए बोध, शान्ति एवं प्रेम का माध्यम बन रहा है।

१. अकेलापन क्यों महसूस होता है?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, मैं सांस भी लेता हूँ तो हवा शरीर के अंदर जा रही है, हवा कोई और है, तो ऐसे तो मैं कभी अकेला हो ही नहीं सकता।

आचार्य प्रशांत: सांस किसके अंदर जा रही है?

प्रश्नकर्ता: शरीर के अंदर जा रही है।

आचार्य प्रशांत: तो शरीर तो अकेला हो ही नहीं सकता।

प्रश्नकर्ता: तो अगर मैं कहूँ कि मुझे अकेले रहना पसंद है तो मैं सबसे पहले तो खुद से ही झूठ बोल रहा हूँ।

आचार्य प्रशांत: उससे पहले तुम और बड़ा झूठ बोल चुके हो कि तुम शरीर हो। पहले खुद ही परिभाषित करते हो कि 'मैं शरीर हूँ' और हवा मेरे साथ है, फिर कहते हो इससे सिद्ध होता है कि मैं कभी अकेला हो ही नहीं सकता।
जो तुम्हारे पूरे तर्क का आधार है, पहले उसको तो परख लो। शरीर कभी अकेला होता है क्या?
जब हम अकेलेपन की बात कर रहे हैं तो किसकी बात कर रहे हैं?

प्रश्नकर्ता: मन की।

आचार्य प्रशांत: शरीर कैसे अकेला हो जाएगा? तुम्हें दिखाई पड़ रहा है कितने करोड़ जीवाणु अभी शरीर पर चिपके हुए हैं? चलो, शरीर से तुम धो भी दो, तुम्हें पता है तुम्हारी आंतों में कितने करोड़ जीवाणु निवास करते हैं? तुम पूरा एक शहर हो, एक देश हो। तुम्हारे भीतर करोड़ों की जनसंख्या बैठी हुई है, तुम अकेले कहाँ से हो गए? शरीर कैसे अकेला हो जाएगा? तुम्हारे भीतर एक घनी जनसंख्या बैठी हुई है। शरीर नहीं अकेला होता। शरीर न अकेला होता है, न दुकेला होता है। जब अकेलेपन की बात की जाती है तो वहाँ पर शरीर

के आयाम की बात की ही नहीं जा रही। मन अगर भीड़ से घिरा हुआ है तो ‘मन’ अकेला नहीं है। मन पर अगर हावी है कुछ भी, तो ‘मन’ अकेला नहीं है।

प्रश्नकर्ता: वह चाहे कुछ भी हो?

आचार्य प्रशांत: कुछ भी।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अगर केंद्र मन के ऊपर है तो उस समय हम कह सकते हैं कि मन अकेला है?

आचार्य प्रशांत: मन में जितनी बातें उथल-पुथल मचा रही हैं, तुम उतने घिरे हुए हो, बात इतनी सीधी-सादी है।

यहाँ बैठे हुए हो तो सिर्फ कुछ लोग हैं आस-पास। स्थूल नज़र से देखोगे तो कहोगे—“यहाँ मैं एक छोटी-सी भीड़ का हिस्सा हूँ”। हो सकता है तुम वहाँ गंगा किनारे जाकर बैठ जाओ और वहाँ तुमको घर-परिवार-दफ्तर-बाज़ार, पूरा समाज—ये काम, वो काम, ये ज़िम्मेदारी, वो याद, वो लक्ष्य—सब ख्याल आ रहे हों। तो वहाँ बैठने से ज़्यादा अकेले तुम तब थे, जब यहाँ थे। आ रही है बात समझ में? यहाँ बैठे हो तो देखने से ऐसा लग रहा है कि एक दल में हो। लेकिन यहाँ पर अगर चुप हो, शांत हो, तो यहाँ ज़्यादा अकेले हो, वनस्पत के जब तुम गंगा किनारे अकेले बैठे थे।

जो लोग कहते हैं—‘साहब! हमें अकेले रहना पसंद है’, वो अक्सर सबसे ज़्यादा भीड़ में जी रहे होते हैं। क्योंकि उनके पास एक पूरी भीड़ होती है *(अपने सर की तरफ इशारा करते हुए)* और वो उससे इतने घिरे होते हैं क्योंकि उससे बाहर निकलने का मौका ही नहीं है। पहले ही भीड़ में हो, तो और लोगों को वह अपने जीवन में प्रवेश ही नहीं दे पाते। अब कमरे में बैठे हुए हैं, और उनके साथ अट्ठारह लोग हैं कहाँ पर? यहाँ पर *(अपने सर की तरफ इशारा करते हुए),* तो कमरे के बाहर जो लोग हैं, वह उनसे मिलेंगे ही नहीं। फिर वो क्या कहेंगे? मुझे अकेले रहना पसंद है। अरे! तुम्हें अकेले रहना पसंद नहीं है। तुम भीड़ से इतना घिरे हुए हो कि अब तुम किसी से मिल ही नहीं पा रहे। तुम्हारे पास जगह ही नहीं है।

ज़्यादातर यह जो अकेलेवाद के अनुयाई होते हैं, वह यही होते हैं।

प्रश्नकर्ता: तो यह कैसे पता चलेगा कि मुझे अकेले रहना पसंद है या नहीं है? मैं किस मोड में हूँ?

आचार्य प्रशांत: मैंने कहा था न जब भी कभी कर्म को आंकना हो, तो एक विधि लगा लेना, जान लेना कि—मन की मंशा क्या है? चाहते क्या हो? सिर्फ उसी से निर्धारण हो जाना है।

जो तुम्हारा लक्ष्य है, वही तुम्हारा केंद्र है—दोनों एक साथ चलते हैं बिलकुल। जो तुम चाह रहे हो, वहीं से चाहत उठती है। जो करने जा रहे हो, उसी ने पहले आकर तुम्हारे कर्म को ऊर्जा दी है।
तुम भागे जा रहे हो किसी लड़की से। शारीरिक तौर पर तो ऐसा लगेगा कि अभी मिलोगे भविष्य में कुछ देर के बाद—हुआ यह है कि उसने पहले तुम्हारे ख्यालों में आकर के तुम्हारे पांवों को ऊर्जा दी है। पहले वह तुम्हारे भीतर आई है *(मन के भीतर)* , अब तुम उसकी ओर शारीरिक रूप से भाग रहे हो। तो जो तुम्हारा लक्ष्य होता है, वही तुम्हारा केंद्र होता है। लक्ष्य को पकड़ लो, केंद्र को जान जाओगे।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, जो लोग अपने लक्ष्यों को निर्धारित कर के चलते हैं, क्या वह केंद्रित होते हैं?

आचार्य प्रशांत: तुम भागे जा रहे हो रोटी की तलाश में, तो अभी तुम्हारा केंद्र क्या है? शरीर। क्योंकि रोटी किसको चाहिए? शरीर को। तो जो लोग रोटी के लिए बहुत तड़पते हैं, वह समझ जाएँ कि उनके केंद्र में क्या बैठा हुआ है? शरीर भाव।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आप जितनी भी बातें बताते हैं, उनको हम सुनते हैं, समझते हैं। अगर उनमें से सर्वाधिक एक-दो बातें निकाली जाएँ, तो मुझे लगता है सबसे ज़्यादा 'ईमानदारी' की ही बात आएगी। तो 'ईमानदारी' जो शब्द है, जिसको अन्यथा या अन्य तरीकों से हम प्रयोग करते हैं, यह वह ईमानदारी तो है नहीं जो आमतौर पर प्रयोग में आती है कि सौ रुपए लिए तो सौ रुपए लौटा दिए। तो मुझे धीरे-धीरे कुछ दिनों में यह बात खुली कि ईमानदारी होती क्या है—समझ को कार्य में परिणित करो। परंतु वह बहुत ऊर्जा माँगती है।

 वास्तव में मैं यह पूछना चाह रहा हूँ कि ईमानदार रहना इतना मुश्किल क्यों है?

आचार्य प्रशांत: वह ठीक उस वजह से मुश्किल मालूम पड़ता है, जिस वजह से तुम कह रहे हो एक-दो सारगर्भित बातें। जब तुम कह रहे हो कि सारी बातों में से एक-दो बातें सारगर्भित हैं, तो तुम देख रहे हो कि तुम क्या कर रहे हो? तुम अपने ऊपर ज़िम्मेदारी ले रहे हो कि शब्दों के इस झुंड में से मैं एक-दो बातें अपने लिए चुनूँगा। अब मेहनत करनी पड़ेगी न, अब अपनी ही बुद्धि पर निर्भर हो गए। लगा दी अकल! जितना अपने ऊपर लोगे, उतना मुश्किल होता जाएगा।

प्रश्नकर्ता: कुछ ऐसे भी क्षण होते हैं, जब मन यह तर्क रखता है कि क्यों?

आचार्य प्रशांत: अच्छी बात है कि मन यह तर्क रखता है कि "क्यों?"। तो जितनी शक्ति हो, उसका पूरा इस्तेमाल करके उत्तर दो न। ऐसा नहीं है कि तुम जानते नहीं। जैसे यह बता रहे हो कि मन सवाल करता है—"क्यों?", वैसे ही यह भी बताओ कि जवाब मौजूद है। सवाल हमें बता देते हो, जवाब भी तो बता दो। नहीं तो फिर सिर्फ़ सवाल की बात करना तो समस्या मात्र को प्रोत्साहन देना है। समस्या बता दूँगा और समाधान जो मेरे सामने है, उसको छुपा दूँगा।

प्रश्नकर्ता: सवाल जो मन का होता है, वह यह होता है कि ईमानदार क्यों होना है? ईमानदारी है जो बुला रही है, कुछ करना है, लेकिन वह इस सिस्टम को तोड़ रही है। मन कहता है कि ठीक है न रहने देते हैं, लेकिन आप कह रहे हैं कि उसको जवाब भी दो। वह जवाब बहुत ज़रूरी होता है, लेकिन वह बहुत धीमा होता है। और जो सवाल होता है, वह बड़ा स्थूल होता है कि "ऐसा क्यों?"।

आचार्य प्रशांत: जो यह धीमा जवाब होता है, वह सवाल के ऊपर का होता है। अंतर नहीं पड़ रहा है कि उसकी आवाज़ कितने ज़ोर की है। वह ऊपर के तल का है, वह नीचे वाले को खुद निर्धारित कर देगा।

लिखा हो उन्नीस (19)। अगर ग़ौर से नहीं देखोगे तो तुम्हें क्या दिखेगा? उन्नीस में ज़्यादा बड़ी कीमत किसकी है—'एक' की या 'नौ' की? तुम कह दोगे 'नौ' की। पर अगर ग़ौर से देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि जो छोटा सा 'एक' है, उसकी ज़्यादा बड़ी कीमत है 'नौ' से। क्योंकि वह ऊपर के तल पर बैठा है। 'एक' बड़ा कि 'नौ'? तुम कह दोगे 'नौ'। बात गलत है! उस छोटे से 'एक' को किसी बहुत बड़े का सहारा है। उसे शून्य का सहारा है। जब 'एक' को 'शून्य' का सहारा मिल जाता है, तब वह 'नौ' से बड़ा हो जाता है। इसी लिए शून्यता के क़रीब जाना चाहिए।

और इसमें कोई हेय बात नहीं हो गई कि वहाँ सिर्फ एक नदी थी। अगर सिर्फ एक नदी थी और उसमें छप-छप कर रहे हो, गोते खा रहे हो, तो वह भी अपनेआप में 'पवित्र' बात है, उसमें भी एक 'सैक्रेडनेस' है। सेक्रेडनेस यही नहीं होती कि जाकर आरती उतार रहे हो और कह रहे हो—"माँ गंगा! माँ गंगा!"। जल के साथ आनंद में हो, यह अपनेआप में बड़े प्रेम और सम्मान की बात है। उसके लिए कोई मंत्र नहीं पढ़ने पड़ते, कोई पूजन नहीं करना पड़ता। आनंद अपनेआप में पूजन है।

२. इतना क्यों लिपटते हो दुनिया से?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, कुछ दिन पहले घर में एक दुर्घटना हुई। घर के बगल की बिल्डिंग में काम चल रहा था। अचानक उसकी एक दीवार मेरे घर की एक दीवार पर गिरी। संयोगवश मेरी पत्नी उस दीवार के पास थीं और उन्हें काफ़ी चोट आयी। उन्हें तुरंत अस्पताल में भर्ती करवाया और एफ.आई.आर दर्ज कराई।

अभी आपको सुन रहा हूँ तो समझ आ रहा है कि कैसे परिस्तिथियों ने मेरा मन जकड़ लिया था। मैं विरक्त नहीं रह पाया। अभी सुन रहा हूँ तो मन शांत है, पर जब घटना घटती है तो मन विरक्त नहीं रह पाता।

आचार्य प्रशांत: जितना अभी समझ में आएगा, उतना अगली बार विरक्त रहने में मदद मिलेगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि अगली बार इस तरह की कोई घटना घटेगी—चाहे अच्छी, चाहे बुरी—क्योंकि विरक्ति दोनों में चाहिए। अभी जो घटना घटी है, वह कष्टप्रद थी। आगे जो घटना घटे, हो सकता है वह सुखप्रद हो, पर अनासक्ति तो दोनों में ही चाहिए न? जितना आप इस बात को अभी समझेंगे, उतना अगली बार अनासक्त रहने में मदद मिलेगी। इसका अर्थ लेकिन यह बिलकुल नहीं है कि अगली बार जब कोई इस तरह की उत्तेजक या मूल्यवान प्रतीत होती हुई घटना घटेगी तो आप उससे पूरे तरीके से विरक्त रह पाएंगे। न! लेकिन 'विरक्ति' थोड़ी बढ़ेगी। घटना का आप पर जो प्रभाव हो रहा है, वह थोड़ा कम होगा। घटना आपको जितना झंझोड़ गई, वह कम हो जाएगा। अभ्यास से आता है।

देखिए, अहं ने प्रकृति के साथ जुड़े रहने का बड़ा लंबा अभ्यास कर रखा है। एक तरह का रिफ्लेक्स एक्शन हो गया है। रिफ्लेक्स एक्शन जानते हैं न? जिसके लिए आपको विचार भी नहीं करना पड़ता, अपनेआप हो जाता है। जैसे नाक पर मक्खी बैठी और आपने हाथ से हटा दिया। इस तरीके से हम वृत्तियों के गुलाम हो गए हैं क्योंकि हम उनसे बहुत समय

से जुड़े रहे हैं। अब हटने का भी 'अभ्यास' करना पड़ता है। समय लगता है; तत्काल नहीं होगा।

लेकिन, हाँ, समय कम लग सकता है अगर आपका इरादा पक्का हो। लेकिन यह मत चाहिएगा कि आप सुनेंगे और काम हो जाएगा। सच तो यह है कि सुनकर भी काम हो सकता है लेकिन फिर उसके लिए अनंत इरादा चाहिए।
कृष्णमूर्ति कभी-कभार कहा करते थे कि—"अगर तुम ठीक-ठीक सुन रहे हो, अगर गहराई से सुन रहे हो, तो जब तुम इस हॉल से बाहर निकलोगे, तुम मुक्त होगे"। इतनी लंबी बात कह दी उन्होंने। बोलते थे कि अगर आपके सुनने में दम है तो आपको एक दिन भी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी, जब आप यहाँ से बाहर निकलेंगे, आप बिलकुल आज़ाद होंगे।

लेकिन वैसा श्रोता होना मुश्किल है न? वैसा श्रोता मिलना मुश्किल है। वैसा वक्ता मिलना भी मुश्किल है कि उसकी बात में ही इतना दम हो कि कोई सुनके ही आज़ाद हो जाए। लेकिन अभ्यास से काम होता है।

आपने जो बात कही, उस संदर्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन को जो दो मंत्र देते हैं, श्रीमद्भगवद्गीता में, वह दोनों आपके लिए उपयोगी हैं। वो कहते हैं—'अभ्यास' और 'वैराग्य'—अर्जुन, इससे होगा! 'अभ्यास और वैराग्य'। समय लगेगा। अभ्यास का मतलब ही है समय, धीरे-धीरे होगा।

लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में अगर आपको थोड़ी भी सफलता मिल रही हो, तो उसको बहुत मानें, और उस सफलता से अपनेआप को प्रेरित रखें। आप कहें कि अगर थोड़ी सफलता मिली है, थोड़ा आगे बढ़े हैं, तो माने और आगे भी बढ़ सकते हैं। क्योंकि चुनौती बड़ी है। लाखों वर्षों का हमारा अभ्यास है प्रकृतिगत रहकर ही जीने का। यह तो एक नई चीज़ हो रही है न कि प्रकृति से जुड़े-जुड़े यह जो मुझे एक छटपटाहट हो रही है, उसके कारण अब मैं दूर होना चाहता हूँ प्रकृति से। प्रकृति का भोक्ता नहीं, साक्षी होना चाहता हूँ। यह नई चीज़ है। पुराना अभ्यास बहुत लंबा है, उसको मिटाने में थोड़ा समय तो लगेगा।

प्रश्नकर्ता: इन्होंने अपनी पत्नी के संबंध में जो उदाहरण दिया, अगर हम लोगों की अपेक्षा के अनुसार व्यवहार नहीं करें, भावुकता नहीं दिखाएँ, तो लोग उसको इस तरह लेंगे कि आपको हमसे लगाव नहीं है।

आचार्य प्रशांत: तो आप अगर शांत हैं और संयमित हैं, किसी विपत्ति की घड़ी में भी, तो लोग आपको देखकर कह सकते हैं कि यह आदमी तो निर्मम है, यह आदमी तो संवेदनाहीन है। आप पर सीधे-सीधे इल्ज़ाम भी लगा सकते हैं कि—"तुम तो हृदय-हीन आदमी हो! तुम्हें तो कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता दूसरे के दुःख-दर्द से!"

ऐसा जब कोई बोले, तो अपनेआप को क्या बोलना है? "मैंनूँ की?" तुम्हारा काम है इल्ज़ाम लगाना, तुम लगा लो।

भाई! यहाँ बात ही यही हो रही है कि बाहर की घटनाओं से अप्रभावित रहना है। ठीक? दूसरे आप पर दोषारोपण कर रहे हैं, यह घटना भी कहाँ की है? बाहर की। तो इस बात से भी अप्रभावित रहिए न!

सर पर दीवार गिर जाए, यह बाहरी घटना है न? और सर पर पड़ोसियों का ताना आकर गिरे, यह भी तो बाहरी घटना है न? तो दोनों से अछूते रहिए। एक का असर शरीर पर पड़ता है, एक का असर मन पर पड़ता है, पर दोनों ही स्थितियों में जो कारण है, वो तो बाहरी ही है न? आदमी को दोनों से चोट लगती है, कोई थप्पड़ मार दे, तो भी, और कोई गाली दे-दे, तो भी। अछूता दोनों से रहना है। थप्पड़ और गाली अलग-अलग चीज़ है? आपके सवाल से ऐसा ही लग रहा है।

प्रश्नकर्ता: नहीं, नहीं। अगर कोई बोल रहा है कि मैं असंवेदनशील हूँ, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता—लेकिन अगर उनको मेरे व्यवहार से दुःख पहुँचा तो?

आचार्य प्रशांत: मैंनूँ की?

असल में आप पूरी बात बता नहीं रही हैं। आपको समस्या इससे नहीं होती है कि उन्हें चोट लग गई। सवाल से तो ऐसा लग रहा है कि "मैं क्या करूँ अगर मेरे बैरागी आचरण से किसी दूसरे का मन दुखता हो?" सवाल सुनने में ऐसा लग रहा है। है न? पर सवाल वास्तव में यह नहीं है। असली बात थोड़ी आगे की है। असली बात यह है कि उसको चोट अगर लगती है तो आपको खतरा हो जाता है कि आपको चोट दे देगा। इसलिए आप परेशान हैं। यह कोई सहृदयता की बात नहीं है कि आप कह रहे हैं कि अगर मेरे आचरण से दूसरे को दुःख हुआ तो। आपके आचरण से बहुतों को दुःख होता है, आपको कोई फर्क ही नहीं पड़ता। आपको फर्क सिर्फ तब पड़ता है, जब जिसको दुःख हो रहा है, वह पलटकर आपको दुःख दे-दे। उसकी यह हैसियत हो। बात समझ रहे हैं कि नहीं समझ रहे हैं?

अच्छा, आप बिना हेलमेट के बाइक लेकर भगे जा रहे हैं, रास्ते में आपको कई लोगों ने टोका कि, 'यह गलत कर रहे हो, यह गलत कर रहे हो', आपको कोई फर्क पड़ता है? अब एक पुलिस वाले ने हाथ दिखाकर कहा कि, 'आप यह गलत कर रहे हो'—अब फर्क पड़ता है न? अब आप कहेंगी—'देखिए, पुलिस वाले को बुरा लग रहा है, यह काम निश्चित रूप से बुरा है'। आपका दिल बहुत धड़क रहा है पुलिस वाले के लिए? आपको पुलिस वाले की तकलीफ़ से इतनी तकलीफ़ हो गई? और जब इससे पहले पचास लोग आपको रोक कर बोल रहे थे कि गलत कर रहे हो, तब कोई तकलीफ़ नहीं हो रही थी? बात सीधी है—

आपको किसी की तकलीफ़ से कोई तकलीफ़ नहीं है। आपको तकलीफ़ यह है कि पुलिस वाले को तकलीफ़ हुई तो आपको तकलीफ़ दे देगा। आप यह बात कोई सहृदयता के नाते नहीं पूछ रही हैं; आप यह बात 'डर' के नाते पूछ रही हैं। जब आप कहते हैं—"मुझे डर है कि मेरा व्यवहार किसी को चोट पहुंचाएगा", यह 'कोई' है कौन? यह 'कोई' वही है जो बदले में आपको चोट पहुंचाने की क्षमता रखता है। और इसीलिए आप ये सवाल पूछ रही हैं। क्योंकि आप अपनी सुरक्षा के लिए डरते हैं, इसलिए नहीं कि आपको डर है कि वह आहत हो जाएगा।
आप डरते हैं कि अगर उसको चोट लगेगी तो वह आपको वापस चोट पहुंचाएगा। है न? ऐसा ही है?

यह मत कहिएगा कि 'करुणा' और 'कंपैशन' के नाते आपने यह सवाल पूछा है। क्योंकि 'करुणा' और 'कंपैशन' कभी दूसरे के विचारों और भावनाओं की फ़िक्र नहीं करते। 'करुणा' और 'कंपैशन' फ़िक्र करते हैं दूसरे के हित और वेल्फ़ेयर की। और यह दो बहुत अलग-अलग चीज़ें हैं। एक चीज़ है यह कहना कि—'मैं उसकी भावनाओं को आहत नहीं करना चाहता' और एक चीज़ है ये कहना—'मैं उसके कल्याण को आहत नहीं करना चाहता'। इन दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। पहली चीज़ कि 'मैं दूसरों की भावनाओं को आहत नहीं करना चाहता', यह आप तब कहते हो जब आपको डर होता है कि उसको आहत किया तो वह मुझे आहत कर डालेगा। और जब आप यह कहते हो कि मैं यह नहीं चाहता कि उसकी 'कुशलता', उसके 'वेल्फ़ेयर' पर कोई आँच आए, तो यह कंपैशन है।

यहाँ आप कहते हो उसकी 'भावनाएँ' आहत होती हों तो हों, उसको बुरा लगता हो तो लगे, पर उसकी बेहतरी, उसकी भलाई के लिए ज़रूरी है कि उसको बुरा लगे, तो लगे। और उसको बुरा लग रहा है, इस नाते वह पलट कर मुझपर वार कर रहा हो तो मैं वार भी बर्दाश्त कर लूँगा, लेकिन उसकी भलाई ज़रूरी है।

कृपा करके आप ये न सोंचे कि जिन लोगों को आप पाते हैं कि दूसरों के प्रति बड़ा शालीन और प्यार भरा व्यवहार रखते हैं, वो लोग ऐसा प्रेमवश या करुणावश करते हैं। बिलकुल भी नहीं! हम ऐसे लोग नहीं हैं कि दुनिया के प्रति प्रेम या करुणा रख पाएँ। हम दुनिया के लिए अच्छाई करते हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि दुनिया भी पलट के हमें अच्छाई दे। और हम दुनिया के लिए अच्छाई करते हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि अच्छाई नहीं करी तो दुनिया कहीं हमारी बुराई न कर दे।

जब रोक लेते हैं ट्रैफिक वाले, तो देखा है कि लोग उनसे कैसे मुस्कुरा-मुस्कुरा के बात करते हैं? पीछे से बोलते हैं 'ठुल्ला' और जब रोक लेते हैं ट्रैफिक वाले तो बोलते हैं 'जी सर'।

होता है कि नहीं होता है? मैंने न जाने कितने लड़कों को ये करते देखा है सड़क पर। हमारा भी ये जो प्यार भरा शिष्ट और शालीन आचरण होता है दूसरों के प्रति, वो इसलिए नहीं होता कि हमें उनसे प्रेम या करुणा है, वो इसीलिए होता है क्योंकि उनसे अगर हमने ज़रा भी वैसा आचरण नहीं किया जैसा वो हमसे चाहते हैं, तो वो हमें नुकसान और तकलीफ़ दे देंगे। तो बहुत सावधान रहिएगा जब कोई यह कहे कि, "मैं यह काम इसलिए नहीं कर रहा हूँ क्योंकि इससे मेरी माँ की भावनाएं आहत होंगी"। अजी छोड़िए! निश्चित रूप से माँ से अभी कोई स्वार्थ होगा। जिस दिन माँ से कोई स्वार्थ नहीं बचेगा, उस दिन देखते हैं कितने लोग हैं जो अभी भी माँ की फ़िक्र करेंगे। और जब आप अपनी माँ की भावनाओं की रक्षा कर रहे हैं, तो क्या आप वास्तव में माँ की फ़िक्र कर रहे हैं? नहीं!

आप बस माँ को उसकी दुनिया में रखना चाहते हैं। आप बात समझ रहे हैं? आप नहीं चाहते हैं कि माँ अपने स्वरचित संसार से बाहर आए। बाहर आएगी तो उसको तकलीफ़ होगी। बाहर आएगी तो उसको पता चलेगा कि वह जिस दुनिया में रह रही थी, वह दुनिया झूठी थी, उसे चोट लगेगी। तो जब आप माँ की भावनाएं आहत नहीं कर रहे हैं, तब भी माँ की भलाई नहीं कर रहे हैं। आप बस उसको उसकी झूठी दुनिया में बने रहने पर मजबूर कर रहे हैं। और यह क्रूरता है। यह बहुत बड़ी क्रूरता है।

किसी ने आपसे पूछा कि, "आपने पाँच दिन से फोन नहीं किया? तुम्हें मेरी याद नहीं आई?" आप कहते हो—"अगर मैं इसको सच बता दूँ तो इसके दिल को चोट लगेगी, ये दुखी हो जाएगा।" तो आप कहते हो, "नहीं, याद तो बहुत आती है, वो नेटवर्क नहीं था। याद तो बहुत आई लेकिन फोन खराब था, रिचार्ज नहीं था, गला बैठा हुआ था।" साफ-साफ क्यों नहीं बता देते हैं कि जो काम कर रहा था वो ज़रूरी था और उस वक्त ये उचित ही नहीं है कि तुम्हारी याद करूँ। सत्य का सुमिरन सदा बना रहे तो ठीक है! तुम कौन हो? मैं तुम्हारी भलाई चाहता हूँ, तुमसे प्रेम करता हूँ, तुम्हें इज़्ज़त भी देता हूँ, पर तुम परमात्मा थोड़े ही हो गए कि तुमको लगातार याद करता रहूँ!" हम बोलते हैं—"नहीं-नहीं, याद तो तुम्हारी हर पल आती थी, मैं बोर्ड के सामने प्रेजेंटेशन कर रहा होता था—पूरा बोर्ड बैठा है कंपनी का, उसके सामने प्रेजेंटेशन कर रहा हूँ, और दिल में तुम्हीं तुम नाचते थे। मैं तो कई बार अपने सी.इ.ओ. को तुम्हारे नाम से संबोधित कर देता हूँ।"

अभी आपने क्या करा है? जो सामने व्यक्ति है वो एक झूठे संसार में रह रहा है, और आपने ये सब बोलकर के अपनी ओर से तो ये करा है कि मैं इसकी भावनाएं आहत न करूँ, पर आपने अभी ये इंतेज़ाम कर दिया है कि वो अपने झूठे संसार से कभी बाहर न आए।

हॉस्टल में था तो एक दक्षिण भारतीय फ़्रेशर आया। वो बड़े ही संस्कारी परिवार से और इस तरह के फच्चों पर हमारी ख़ास नज़र रहती थी। कोई पहले ही बिगड़ा हुआ आए तो उसे

कौन छेड़ता है? कोई आए बिल्कुल गोल-मटोल संस्कारी तो एकदम लार आ जाती थी सीनियर्स के मुँह में—"मिला! इसके साथ मज़ा आएगा!" तो उसको सुधारा गया। वो आया था तो सुगंध में नहाया हुआ। चंदन पोते हुए। दिन में दो-बार नहाए, पूजा अर्चना करे। खाना खाने के पहले भी कुछ क्रिया-व्रिया करे। सोने से पहले मंत्र जाप करे। जो कुछ भी उसके साथ होना चाहिए था वह सब हुआ। उसको भी आनंद आ गया। पट्ठा ज़बरदस्त निकला। पहले दो-तीन दिन तो उसको हैरत हुई, फिर चौथे दिन से वो रात को दो-तीन बजे सीनियर्स का दरवाज़ा खटखटाए। बोले, आज की अभी हुई नहीं, थोड़ा और करते हैं। रंग गया हॉस्टल के रंग में। अब एक फ़ोन हुआ करता था, लैंडलाइन का ज़माना था। पूरे हॉस्टल के लिए एक फ़ोन। उसको मैंने एक बार बात करते हुए सुना। अपने घर पर बात कर रहा है, पर उसकी भाषा मुझे बहुत समझ में आए न। फच्चों को ये अनुमति नहीं थी कि वो चुपचाप बात कर सकें। पता नहीं क्या बात करे। इसलिए कोई-न-कोई कान दिए रहता था। तो जितना मुझे एक दो बार सुनके समझ आया कि वो ये बता रहा था कि—"हाँ, माँ, रोज़ सुबह नहाता हूँ, पूजा करता हूँ और यहाँ ये जितने सीनियर्स हैं, सब बड़े धर्म परायण हैं। भजन और आरती से हॉस्टल गुंजायमान रहता है।" मैंने पकड़ा और पूछा कि ये क्या बात कर रहा था? तो उसने खुल के बताया। मैंने पूछा क्यों? तो उसने कहा कि माँ को ठेस लगेगी। मुझे तब इतनी स्पष्टता तो नहीं थी कि ये जो कर रहा है वो क्या कर रहा है, पर फिर भी मैंने भाँपा। मैंने कहा दोबारा फ़ोन जब आएगा तो मेरे सामने बात करेगा और सारी बात सच-सच बताएगा। बोला—"जो रैगिंग करनी है कर लो। कहाँ नंगा होकर कूदना है, बोलो? कौन-कौन से काम मुझसे करवाने हैं करवा लो, लेकिन ये काम मत करवाओ।" मैंने कहा "क्यों?" बोला—"माँ का दिल टूट जाएगा"। मैंने कहा दिल-विल कुछ नहीं, यही रैगिंग है तेरी। उसने बताया। कुछ देर तक तो उस तरफ़ सन्नाटा रहा। थोड़ा सबकी भीं। फिर कुछ नहीं, समझ गयीं। बोलीं ठीक है।

अगर वास्तव में प्रेम करते हो तो दूसरे तक सच्चाई लेकर आओ न! माँ अपनी छोटी-सी दुनिया में कैद है। वही घर में रहती है, वही रसोई, वही घर, वही पूजा घर। तुम चाहते हो वो वैसे ही जिए, वैसे ही मर जाए? यही चाहते हो? और इस बात को बड़े फ़क्र के साथ कई लोग बताते हैं—"मेरी माँ कि तो छोटी-सी सुंदर-सी दुनिया है"। अरे, वो छोटी-सी सुंदर-सी दुनिया नहीं है, उसे जेल बोलते हैं। एक झटके में नहीं बता सकते तो धीरे-धीरे बताओ, पर बात तो खोलनी पड़ेगी। कुछ उपाय करो!

पर फिर डर ये लगता है कि उधर अगर चोट पहुँची, तो इधर भी चोट पहुँचेगी-ही-पहुँचेगी। हम कहाँ बच जाने वाले हैं। हम अपनी सुरक्षा के ख़ातिर दूसरे को सत्य से वंचित कर देते हैं। कर देते हैं न? नहीं करना है!

३. अकेले रहने में डर और परेशानी?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, यह डर लगा रहता है कि अकेले रहने का फ़ैसला तो कर लिया है, पर कभी अचानक रात को तबियत ख़राब हो गई तो क्या करूंगी? अकेले रहने में और कोई परेशानी नहीं है। बहुत मस्त रहती हूँ जब से आपकी बातें सुनी हैं। मन शांत रहता है, जीना आ गया है। जीवन में रस है।

आचार्य प्रशांत: रात को तबियत ख़राब हो गई तो डॉक्टर बुला लीजिएगा।

प्रश्नकर्ता: फोन कैसे करूंगी?

आचार्य प्रशांत: ये क्या सवाल है? *(मुस्कुराते हुए)*

प्रश्नकर्ता: बस यही है, और कुछ नहीं है।

आचार्य प्रशांत: नहीं, यही नहीं है। जो चीज़ मन पर हावी रहे, भीतर का माहौल ख़राब करके रखे, वो चीज़ छोटी थोड़े ही होती है।

प्रश्नकर्ता: नहीं, माहौल ख़राब तो नहीं रहता, फिर भी कभी-कभी आ जाता है डर।

आचार्य प्रशांत: कभी-कभी बाहर से थोड़े ही आ जाता है; भीतर हमेशा रहता है, कभी-कभी प्रकट हो जाता है। और अगर वो भीतर है, तो आप ये डर हटाने की व्यवस्था कर भी लेंगी तो वो किसी और मुद्दे को लेकर शंकित रहेगा। किसी और मुद्दे को बढ़ा-चढ़ा कर के अशांति का निर्माण कर लेगा। भीतर वो छुपा तो बैठा ही है न जिसे अशांति पसंद है। उसको तो बहाना चाहिए। सेहत का बहाना नहीं मिलेगा तो दूसरा बहाना ढूंढेगा। और अगर भीतर वो नहीं है जिसे अशांति चाहिए, तो बाहर अगर कारण मौजूद भी हैं अशांति के, तो भी उन कारणों को भीतर प्रवेश करने नहीं दिया जाता। उन कारणों को समर्थन और ताक़त नहीं दी जाती, तो वो कारण फ़िर बाहर-बाहर रहते हैं, भीतर प्रभाव नहीं डालते।

“अकेली रह रही हूँ, कभी तबियत ख़राब हो गई तो क्या होगा?”

प्रश्नकर्ता: नहीं, दिन में तबियत ख़राब हो जाए तो उसकी चिंता नहीं है, रात को कोई सुनेगा ही नहीं।

आचार्य प्रशांत: अच्छा, बुरे-से-बुरा क्या होगा—मर जाएंगी?

प्रश्नकर्ता: हाँ, तो फ़िर मर जाऊंगी और क्या? *(हस्ते हुए)*

आचार्य प्रशांत: तो मर जाइए।

प्रश्नकर्ता: हाँ, यह सोच लिया है तभी तो खुश रह पा रही हूँ। लेकिन ये था कि बस आप से ये सवाल पूछ लूँ।

आचार्य प्रशांत: देह का इतना लोभ अगर रहेगा तो मात्र मृत्यु का डर ही थोड़े परेशान करेगा, फ़िर तो देह संबंधी पचास और चिन्ताएँ भी पकड़े रहेंगी। देह को लेकर ही तो घबरा रहीं हैं न?

प्रश्नकर्ता: हाँ, बस यही कि कोई फ़ोन उठाएगा या नहीं, सब सो रहे होंगे उस समय।

आचार्य प्रशांत: आप समझिए पहले बात को। बहुत विस्तार से वर्णन मत कीजिए। सपने का बहुत विस्तार से वर्णन करेंगी तो उससे सपना हट नहीं जाएगा। पहले समझिए कि आपने किस तरीक़े से अपने ही ख़िलाफ़ एक स्वार्थ बना रखा है। देह से जिसको आसक्ति हो गई है, देह उसको किसी भी सही जगह जाने से रोक देगी। आप कुछ भी करने निकलेंगी, देह बाधा बनेगी। देह का मोह बड़ी-से-बड़ी व्याधि होता है। देह में व्याधि नहीं लगती; देह का मोह ही व्याधि है।

बीमार वो नहीं है जिसके शरीर को रोग लग गया है, बीमार वो है जिसे शरीर का मोह लग गया है।

शरीर का अगर मोह लग गया है तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि कोई दुर्घटना घटे; दुर्घटना की आशंका ही काफ़ी है। न जाने कितने बैक्टीरिया हैं जो हवा में तैर रहे हैं। पता नहीं ये पानी क्या है?—हैजा न हो जाए। नाखून काट रहे हैं और ज़रा सा खून आ गया—कहीं टिटनेस न हो जाए। भीतर जो बैठा हुआ है, उसका तो ‘एक’ मकसद है—किसी तरह चिल्लपों मची रहे, उधेड़बुन चलती रहे, अशांति लगी रहे। उसके लिए वो कारण निर्मित कर लेगा, गढ़ लेगा, आविष्कृत कर लेगा। जहाँ कारण ही नहीं होगा, वहाँ कारण उठा लाएगा।

तो बात देह की नहीं है, बात आपकी मूलवृत्ति की है। अशांति की समर्थक हैं आप। अपनेआप से बचकर रहिएगा। और जो अशांति का समर्थक होता है, वो अपने को भी अशांत करता है और दूसरों को भी अशांत करता है। वो जिसके साथ रहेगा, उसको भी अशांत कर देगा, क्योंकि उसे शांति पसंद है नहीं। वो अगर बूढ़ा है तो कहेगा, "मुझे देह का भय है", और अगर वो जवान होगा तो कहेगा कि "देह की कामनाएं पूरी करनी हैं, इसलिए अशांत हूँ।"

बूढ़े की भी अशांति किस से संबंधित हुई? देह से। कि कहीं देह को कुछ हो न जाए—"बूढ़ा गया हूँ, जर्जर है देह", और वही व्यक्ति यदि जवान है—कौन-से व्यक्ति की बात कर रहे हैं हम? जिसे अशांत रहना पसंद है। वही व्यक्ति जब जवान है तो वो कहेगा—"देह है तो देह की पचास माँगे हैं। उनको पूरा करना है इसलिए अशांत हूँ।" मकसद तो एक है न, क्या? अशांति। वो मकसद पूरा हो जाएगा। और किसी तरह ये स्थिति आ भी जाए कि देह से आपका मोह ज़रा कम करा दिया जाए, तो अशांत होने की वृत्ति कोई और विषय, कोई और वस्तु पकड़ लेगी और उस वस्तु को लेकर अशांत हो जाएगी। वो कोई बहुत छोटी-सी वस्तु भी हो सकती है।

देखा होगा आपने लोगों को, कैसी-कैसी बातों पर बौरा जाते हैं—कोई आपकी बहुत पुरानी शर्ट है, उसका आपको ख्याल भी नहीं। साल भर से, आपको उसका ख्याल ही नहीं आया। आपका काम मज़े में चल रहा था और वो शर्ट भी बहुत पुरानी हो चुकी है। आपने उसका खूब इस्तेमाल कर लिया है। और आज सुबह आपको उस शर्ट की याद आ गई और आप दस जगह ढूंढ रहे हैं कि वो गई कहाँ। हुआ है ऐसा? अरे, शर्ट नहीं तो कोई और चीज़ होगी।

क्या वो आपके लिए आवश्यक थी—शर्ट? आप तो उसे भुलाए बैठे थे, और आपका मज़े में काम चल रहा था। उसकी कोई आवश्यकता नहीं है आपको। लेकिन वृत्ति अशांत होने के लिए कुछ-न-कुछ सामग्री चाहती है—सामग्री मिल गई। देह, नहीं तो वस्त्र। देह और वस्त्र तो फ़िर भी तथ्य हैं—भौतिक वस्तुएँ हैं—अगर चस्का ही लगा हो परेशान रहने का तो आपको किसी वस्तु की भी आवश्यकता नहीं, आप यूँ ही परेशान हो जाइए और कहिए कि, "मुझे तो पता भी नहीं है कि मैं परेशान क्यों हूँ"। ऐसे लोग फ़िर अपनेआप को बताते हैं कि, "हम एंग्ज़ायटी के मरीज़ हैं"। वो कहते हैं—"देखिए साहब, हमारी स्थिति चिंताग्रस्त आदमी की नहीं है। चिंताग्रस्त आदमी के पास चिंता के लिए कोई विषय, कोई कारण होता है। हमारे पास कोई वजह नहीं है चिंतित होने की, व्याकुल होने की, हम बेवजह व्याकुल हैं। हम चिंतित आदमी से ज़्यादा गंभीर स्थिति में हैं। हमारी स्थिति को आप एक गहन मनोरोग का दर्जा दीजिए—हम 'एंग्ज़ायटी' के मरीज़ हैं।"

ये जिसको आप एंग्ज़ायटी कहते हो, ये बस बीमारी ही है, परेशानी की लत है। इस लत को जब विषय मिल गया तो वो चिंता बन जाती है। फ़िर आप कहते हो—"फलानी चीज़ को लेकर मैं चिंतित हूँ", और जब कोई विषय नहीं मिला तो आप बिना विषय ही उदास रहते हो। अनुभव भी किया होगा, आस-पास भी देखा होगा, कि कोई मुंह लटकाए घूम रहा है, आप पूछोगे—"बात क्या है?", वो कहेगा— "बात तो कुछ नहीं है, बस यूं ही, माहौल ख़राब है भीतर।"

"बात कुछ नहीं, माहौल ख़राब है"—ये तो बहुत बड़ी बात है। ऐसी लत लगी है कि अब मन ख़राब करने के लिए कारण भी नहीं चाहिए। अब हम बेशर्म हैं।

पहले कम-से-कम अगर मुँह लटकाते थे तो उस उदासी को थोड़ा सत्यापित, थोड़ा प्रमाणित करने की ज़रूरत समझते थे। चाहते थे कि हमारी उदासी की कुछ वैधता हो, उसका कुछ जस्टिफिकेशन हो, कि कोई पूछे भी कि भई क्यों उदास हो? तो बता तो पाएँ कि फलानी वजह से उदास हैं। भले ही वजह ये हो कि आज मंगलवार है इसलिए उदास हैं। भले ही वजह ये हो कि दस बजे हैं और बादल छाए हैं, तो हम उदास हैं। व्यर्थ ही सही, बेवकूफी भरी ही सही, कुछ वजह तो बताते। इतनी तो लाज-शर्म रखते। नहीं। कुछ लोग इससे भी आगे निकल जाते हैं। वो कहते हैं— "हम तो बेवजह उदास हैं", इन्होंने अब सारी आंतरिक हया ताख पर रख दी है। ये अब बेधड़क, खुल्लम-खुल्ला, नंगे मैदान में उतर आए हैं और कह रहे हैं कि "मैं वो हूँ जिसे उदास रहना है और मैं खुल्लम-खुल्ला उदास रहूँगा और मुझे किसी कारण का सहारा लेने की भी ज़रूरत नहीं है; मैं बस उदास हूँ।" अच्छा है, बात चूँकि बेशर्मी की है, इसीलिए थोड़ी ईमानदारी की है। कम-से-कम इन्होंने स्वीकार तो किया कि इन्हें तो उदास होना ही था, कारण तो बहाना था।

यही बात अन्य वृत्तियों पर भी लागू होती है—क्रोधित होना है तो होना है; कारण खोज कर ही रहेंगे। दिखाना है कि हम सुसंस्कृत आदमी हैं, तो कुछ कारण खोजकर बताएंगे कि, "मैं इस कारण से क्रोधित हूँ"। फ़िर एक दिन आप बिलकुल अपनी पर उतर आते हो, कहते हो—"कारण वगैरह कुछ नहीं है, बस खुंदक है। है तो है।" सही बात तो ये है कि कारण कभी था ही नहीं, 'वृत्ति' थी। कारण बाहर होता है, वृत्ति भीतर होती है। कारण तो कभी था ही नहीं; कारण तो बस यूँ ही आडम्बर था। असली चीज़ तो वृत्ति थी जो भीतर बैठी हुई है कहीं। क्यों ऐसी आत्मघाती वृत्तियों को पोषण देते हो?

हम होस्टल में हुआ करते थे, तो एक 'पप्पी' था। 'पप्पी' माने कुत्ता नहीं—'पप्पी', नाम था एक व्यक्ति का। तो अब पप्पी हमेशा मुँह लटकाए घूमे—ये पप्पी का चरित्र था। और ऐसों को छेड़ने में लड़कों को ज़्यादा स्वाद आता है। जो पहले ही छिड़ा-छिड़ा घूम रहा हो, उसको छेड़ना तो आवश्यक सा हो जाता है। कैसे छोड़ देंगे? इसलिए 'बम्प्स' का रिवाज़

था। 'बम्प्स' समझते हो? चार लोग लगते थे, दो हाथ पकड़ते थे, दो पाँव पकड़ते थे और झूला झुलाते थे। और बाकी दस जन दनादन-दनादन पिछवाड़ा गरम करते थे—लातों से। तो जहाँ पप्पी को देखा जाए कि मनहूस सूरत लेकर घूम रहा है, तहाँ मन करे कि पप्पी को बम्प्स देने हैं। पर कोई वजह तो होनी चाहिए, तो फ़िर वजहें निकाली जाती थीं—क्या? साढ़े-तीन बजे हैं—पप्पी को बम्प्स। आज मेस में खाना ख़राब बना था—पप्पी को बम्प्स। आज फलानी लड़की ने पीला सूट पहना था—पप्पी को बम्प्स। आज का पेपर बहुत आसान आया था—पप्पी को बम्प्स। आज का पेपर बहुत कठिन आया था—पप्पी को बम्प्स। आज मौसम बहुत ख़राब है, आज मौसम ख़ुशगवार है—पप्पी को बम्प्स।

ऐसी हमारी हालत है। हम सोचते हैं कि हमारे कार्य किसी कारण से निकाल रहे हैं। हमें कार्य-कारण के जोड़े में बड़ा यकीन है। हमारे कार्य, 'कारण' से नहीं निकलते। वहाँ कॉज-इफेक्ट मत खोज लेना। हमारे कार्य वृत्तियों से निकलते हैं; कारण तो हम बाद में गढ़ लेते हैं। कारण गढ़ना तो ऐसा है कि तुम फिर तर्क खड़ा कर दो कि—"हम जैसा जी रहे हैं, क्यों जी रहे हैं?"। ये तर्क बाद में खड़ा किया जाता है। ये मत कह देना कि चूँकि तर्क है इसलिए काम है। काम जो है वो इसलिए है क्योंकि वो काम 'वृत्ति' द्वारा प्रेरित और संचालित है। बाद में तुम अपने कार्य को वैधता देने के लिए कारण का निर्माण कर लेते हो—वो तर्क कहलाता है, लॉजिक, जस्टिफिकेशन।

तुम्हें परेशान रहना है। सोलह साल की लड़की की देह भी दे दी जाए, तो भी परेशान तो रहोगे, तब कारण कुछ और खोज लोगे। अभी कहोगे—"देह जर्जर है इसलिए परेशान हूँ", फ़िर कहोगे—"देह इतनी खूबसूरत है तो परेशान हूँ, मुझे लोग बेबी बेबी बेबी बोलते हैं।" परेशान तो रहना है, क्योंकि परेशान नहीं रहोगे तो उससे मिलन हो जाएगा न। और उससे बड़ा ऐतराज़ है, बहुत घबराते हो। जीवन भर की दौड़-धूप ही इसलिए की है कि किसी तरीक़े से उससे बचे रह सकें।

तर्कों को बहुत कीमत मत दे दिया करो—हमारे 'काम' पहले आते हैं, तर्क बाद में आते हैं। तुम करोगे वही जो तुम्हें करना है। हाँ, ज़रा होशियार आदमी हो, पढ़े-लिखे, विद्वान, पंडित आदमी हो, तो तर्क तुम बहुत महीन ढूंढ निकालोगे। लोग कहेंगे—"वाह! कितना बढ़िया तर्क था इसके पास। इसलिए इसने ऐसा काम किया।" बात उल्टी है। तर्क से काम नहीं आया है, 'काम' पहले आया है, तर्क बाद में रचा गया है। हमारे तर्क आते हैं हमारी बहुत आदिम और पुरातन पाशविक वृत्तियों से। वहाँ से हमारे सारे 'काम' उठते हैं। तुम पैसे की ओर क्यों भागते हो? तुम लाख तर्क दे दो, सही बात ये है कि भीतर जो पुरानी हिंसा भरी हुई है, वो तुम्हें पैसे की ओर भगाती है। डरे हुए हो तो किसी तरह की भौतिक सुरक्षा इकट्ठी करना चाहते हो—उसका नाम है पैसा; और हिंसक भी हो, दूसरों पर आक्रमण भी करना

चाहते हो, उसके लिए जो अस्त्र इकट्ठा करना चाहते हो—उसका नाम है पैसा। हाँ, तुम तर्क पचास तरीक़े के दे दोगे, तुम अर्थशास्त्री हो जाओगे, तुम न जाने कहाँ-कहाँ से ऊँचे-ऊँचे सिद्धांत लेकर आओगे और कहोगे—"देखिए, इसलिए धन इकट्ठा किया जाता है।" हटाओ! तुम अगर डरे नहीं होते तो इतना पैसा इकट्ठा करते क्या—ईमानदारी से बताना? तुम अगर हिंसक नहीं होते तो पैसे के लिए इतने व्याकुल रहते क्या?

इसी तरह बहुत सीधा उदाहरण है—ये जो स्त्री-पुरुष का आकर्षण होता है, मूल आकर्षण वही पुरानी, पाशविक, प्राकृतिक वृत्ति के कारण है। मूल आकर्षण सिर्फ़ इसलिए है क्योंकि प्रकृति तुमसे संतानोत्पत्ति करवाना चाहती है। उसी को तुम बोलते हो—"पहली नज़र का प्यार"। मतलब समझते हो न उसका? कि तुम्हें पता भी नहीं चला कि तुम आकर्षित क्यों हो रहे हो! पहली नज़र में प्यार का तो अर्थ ही यही है कि तुम्हारे पास विचारने का भी समय नहीं था। वैसी सी ही बात थी कि चुंबक है और लोहा है। ये तो वृत्ति का खेल था सीधे-सीधे, पर तुम किसी को कैसे बताओगे कि उस स्त्री की ओर इसलिए जा रहे हो क्योंकि तुम्हें बच्चा पैदा करना है? बात सुनने में ही बड़ी असभ्य लगती है। और अगर स्त्री ये बता दे कि—"मुझे वो पुरुष अच्छा लगता है क्योंकि मुझे बच्चा पैदा करना है", तो समाज कहेगा कि और ज़्यादा असभ्य बात है ये तो! तो फ़िर तुम सीधे-सीधे ये नहीं कहते कि 'क्यों' किसी की ओर आकर्षित हो रहे हो। फ़िर तुम शायरी करते हो। फ़िर तुम बताते हो कि ये जो घटा जैसी जुल्फें हैं, हमें ये पसंद आयी हैं। फ़िर तुम बताते हो कि बात-चीत करने में बड़ी होशियार है, स्वभाव से बड़ी मीठी है, इसलिए हमें अच्छी लगती है।

वो सारी वजहें कायम रहें और जो मूल वजह थी वो हटा दी जाए, फ़िर देखना कि वो तुम्हें कितनी अच्छी लगती है। ऊपर-ऊपर की सारी वजहें यथावत रहें, उसकी ज़ुल्फ़ें वैसी-की-वैसी रहें, वो चाय उतनी ही मीठी बनाए, उसका दुपट्टा उतना ही पीला रहे, उसकी खुशबू उतनी ही प्यारी रहे, विद्वत्ता भी उसकी पहले जैसी ही रहे, हँसे तो फूल झड़े—बस ये तय कर दिया जाए कि इसको छूने को कभी नहीं पाओगे, फ़िर देखना कि तुम्हारा आकर्षण शेष रहता है या नहीं। पहले ही बता दिया जाए।

पूछो किसी से—"विवाह क्यों कर रहे हो?", तो सीधे थोड़ी बता देगा कि इसलिए कर रहे हैं क्योंकि संतान चाहिए। ख़रगोशों को नहीं देखा कभी? नर ख़रगोश, मादा ख़रगोश के पास क्यों जाता है? प्रकृति चाहती है कि नन्हे-मुन्हे ख़रगोश आएँ। बस इतनी सी बात है, इसलिए जाता है। पर पचास बातें बताई जाएंगी कि "देखो ऐसा है, वैसा है, बुढ़ापे का सहारा चाहिए। कभी बीमार हो गए और अकेले होंगे तो क्या होगा?"—ये सारी बातें।

यही विवाह के वक़्त, स्त्री और पुरुष को बता दिया जाए कि तुम दोनों को एक-दूसरे में जितनी बातें अच्छी लगती हैं वो सब कायम रहेंगी, बस एक दूसरे को कभी छूने को नहीं

पाओगे। फिर बताओ—विवाह होगा? होगा क्या? तो मूल बात कुछ और होती है। उसके पीछे कारण गढ़ लिए जाते हैं। कारणों की बहुत परवाह मत करना, कारण तो नैतिकता से आते हैं, मर्यादा से आते हैं। कारण तो इसलिए आते हैं ताकि तुम्हारे मन में तुम्हारी जो प्रकाशित छवि है, उज्जवल छवि है, वो कायम रह पाए। ताकि तुम अपनी ही नज़रों में गिर न जाओ। ये बातें सब सामाजिक हैं। इनका यथार्थ से कोई लेना-देना नहीं।

तो इसी तरह ये सब देह इत्यादि की बातों का यथार्थ से कोई लेना-देना नहीं। मूल बात इतनी ही है कि 'उससे' *(परमात्मा से)* गुरेज़ है। 'उससे' किसी तरीक़े से बचना है। शांत हो गए तो वो उतर आएगा। तो कोई तो बहाना चाहिए न व्यथित रहने का, व्यस्त रहने का। वो तो तभी आता है तुम्हारे पास जब तुम कहते हो कि—"अब हम पूरी तरह खाली हैं इसीलिए तुम्हारे लिए उपलब्ध हैं, तुम्हारे प्रति उपस्थित हैं।" वो आएगा ही नहीं तुम्हारे पास अगर तुम कहोगे कि—"अभी तो हम व्यस्त हैं। अभी हमें शरीर की परवाह है। हम शरीर की परवाह करने में व्यस्त हैं। अभी तो हमें घर चलाना है, संसार बढ़ाना है। हम उन सब फितूरों में व्यस्त हैं।" वो आएगा ही नहीं, वो कहेगा—"अभी तुम व्यस्त रह लो"। तुम कहते हो—"ठीक। हम समझ गए। तुमसे बचना हो तो हमें व्यस्त रहना होगा।" तो हम व्यस्तताएं गढ़ते रहते हैं। हम व्यस्त होते नहीं हैं, हम व्यस्तताएं गढ़ते हैं।

लोग शिकायतें करते हैं कि काम ज़्यादा है। जानती हो आदमी की बड़ी-से-बड़ी शिकायत क्या है? कहीं काम कम न हो जाए। ये झूठी शिकायत है कि "मैं बहुत व्यस्त हूँ, समय नहीं मिलता"। तुम्हें असली तकलीफ़ तब होती है जब तुम्हारे पास करने को कुछ नहीं होता। तुम तड़प उठते हो बिलकुल। ये क्या हो गया! फ़िर और कुछ करने को नहीं होगा तो टी.वी. का रिमोट उठाओगे और लगोगे चैनल बदलने। एक भी क्षण पूर्ण शांति का, स्थिरता का और ख़ालीपन का कंपा जाता है भीतर, क्योंकि तुम खाली हुए नहीं कि 'वो' उतरेगा। उसको जगह मिली नहीं कि 'वो' उतरेगा। और तुम डर जाते हो क्योंकि वो उतरा नहीं कि 'तुम' गए। तुम कहते हो—"जगह मत छोड़ना उसके लिए। सो भी रहे हो तो भी उसके लिए जगह मत छोड़ना। सपने में भी चिंतन चलता रहे।" फ़िर तुम मीठे सपने देखते हो, कड़वे ही सही, जैसे भी हैं, व्यस्त तो रखते हैं न तुमको।

ये जो देखते हो रेला-मेला चला जा रहा है, तुम्हें क्या लगा रहा है, इन सब लोगों के पास जायज़ वजहें हैं वहाँ जाने की जहाँ वो चले जा रहे हैं? ज़रा भ्रम से बाहर आओ। अभी मैं यहाँ आ रहा था, शाम का वक्त था, दफ़्तर छूटे होंगे। हबड़-तबड़ एक ऑटो वाले ने एक कार वाले को मार दिया—जानबूझकर नहीं, चौराहे पर खड़ा था, उसने ज़रा ऑटो पीछे किया तो गाड़ी में छू गया। वहाँ फसाद हो गया। रेले पे रेला, जत्थे पे जत्था—तुम्हें क्या लगा रहा है, इन सब के पास जायज़ वजहें हैं व्यस्त होने की? नहीं। व्यस्तता ज़रूरी है

ताकि ‘उससे’ बचा जा सके। ये सब लोग काम के लिए नहीं भाग रहे हैं, ये सब लोग काम की तरफ़ नहीं भाग रहे हैं; ये सब सत्य से दूर भाग रहे हैं। व्यस्त रहना ज़रूरी है। व्यस्त रहना बहुत ज़रूरी है। कुछ-न-कुछ चलता रहना चाहिए। तभी तो ध्यान इतना मुश्किल पड़ता है क्योंकि ध्यान का अर्थ होता है थम जाना, स्थिर हो जाना। और समाज ने तुम्हारा ये मुद्दा ही अपमान का बना दिया है। अगर तुमसे पूछा जाए और तुम कह दो कि, “मैं कुछ नहीं करता”, अरे! कुछ नहीं करते! बेरोज़गारी को लेकर ये आशंका फ़िर भी छोटी होती है कि पैसा नहीं होगा तो क्या करेंगे। बेरोज़गारी को लेकर तुम्हारी बड़ी-से-बड़ी आशंका ये होती है कि इतने खाली समय का करेंगे क्या? जानते हो, बहुत बड़ी तादाद में दुनिया में और इस देश में भी लोग प्रच्छन्न रूप से बेरोज़गार हैं। छुपा हुए बेरोज़गार है। प्रच्छन्न बेरोज़गारी—वो जानते हो क्या होती है? जो काम दो घंटे में हो सकता है, वो दिन भर में किया जाता है, ताकि ये लगता रहे कि तुम व्यस्त हो, रोज़गारी हो, कामगार हो। काम करने को कुछ नहीं है, पर दिन भर तुम यही दिखाते हो कि ‘मैं तो लगा हुआ हूँ’।

ये सब खाली हो जाने के प्रति तुम्हारा विरोध है, और कुछ नहीं। तुम जताना चाहते हो कि तुम बड़े महत्वपूर्ण हो कि तुम्हारे पास करने के लिए अभी बड़े कीमती काम बाकी हैं। तुम दिखाना चाहते हो कि अभी तुम्हें बहुत सारी यात्रा करनी है। तुम दिखाना चाहते हो कि तुम्हारे हाथ भरे हुए हैं। तुम दिखाना चाहते हो कि अभी पलायन कैसे कर जाएं, अभी कूच कैसे कर जाएं, अभी तो हमारे ऊपर बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं। अभी तो ये देखो—कामों की इतनी लम्बी फेहरिस्त पड़ी हुई है। तुम चाहते हो कि जब वो तुम्हारे सामने खड़ा हो तो तुम उससे बोलो—“देखिए, आपसे प्यार तो हमें बहुत है पर इतने सारे काम हमें पूरे करने हैं।” ये काम कभी पूरे होंगे नहीं, इसलिए नहीं कि ये काम पूरे हो सकते नहीं, बल्कि इसलिए क्योंकि तुम इन कामों को कभी पूरा होने दोगे नहीं। देखा है कोई आदमी जो मरते वक़्त भी कहे कि मेरे काम सारे पूरे हो गए, मेरी कहानी पूरी हो गई, मेरी यात्रा पूरी हो गई? देखा है?

हम अपने मकसद में कामयाब हो जाते हैं। हम चाहते हैं कि जीवन हमारा बीत जाए उससे बचे-बचे, ओट में छुपे-छुपे, और हमारे मंसूबे कामयाब हो जाते हैं, हम सफल हो जाते हैं। यही तो हम चाहते थे कि किसी तरह से मृत्यु का पल आ जाए; जीवन रूपी अवसर पूरे तरीक़े से बीत ही जाए, और मुक्ति का सामना न करना पड़े। जीवन को लेकर जो बड़ी-से-बड़ी चीज़ हमें घबराती है वो मृत्यु नहीं है—मुक्ति है। मृत्यु का डर फ़िर भी छोटा होता है, मुक्ति का डर बहुत बड़ा होता है। इसीलिए तुमने देखा होगा कि मृत्यु का वरण तो बहुत सारे लोग स्वयं ही कर लेते हैं।

क्रोध चढ़ रहा है, तुम जा रहे हो पांच लोगों से भिड़ने। दो-चार तुम्हें सलाह भी दे रहे हैं—तुम्हारे शुभ चिंतक, कि, “मत जाओ, वो पाँच खड़े हैं, उनके पास हथियार है।” तुम कहते

हो—“गुस्सा आ रहा है, जाना है”। ये तुम स्वयं ही मृत्यु का वरण कर रहे हो, कर रहे हो न? लोग आत्महत्या कर लेते हैं—चुन ली उन्होंने मौत। लोग ऐसे पेशों में चले जाते हैं जहाँ पर मौत की संभावना होती है—सिपाही बन जाते हैं। और भी ख़तरनाक पेशे हैं, उनमें चले जाते हैं। ये सब मृत्यु का वरण है।

मृत्यु का वरण आदमी फ़िर भी आसानी से कर लेता है, मुक्ति का वरण नहीं कर पाता—मुक्ति बहुत खौफनाक है।

‘शारीरिक मृत्यु’ को आप ‘मृत्यु’ कहते हैं; ‘मानसिक मृत्यु’ को, ‘वृत्तिगत मृत्यु’ को ‘मुक्ति' कहा जाता है। शरीर की मौत को आप स्वीकार कर लेते हो; मन की मौत को आप स्वीकार नहीं कर सकते। वजह ये है कि हम शरीर में नहीं जीते। शरीर में जो जिए वो तो फिर भी तथ्य में जी रहा है। शरीर क्या है? तथ्य है। हम कल्पनाओं में जीते हैं —कल्पनाएं माने ‘मन’। हम तथ्यों में नहीं जीते। हमारा शरीर से लेना-देना कम है। हमारा ज़्यादा लेना-देना किससे है? कल्पनाओं से, धारणाओं से, उन सब वस्तुओं से जो ‘मानसिक’ हैं। तो हमारा ज़्यादा तादात्म्य शरीर की अपेक्षा ‘मन’ से है। हम सम्बंधित दोनों से हैं—हम में ‘देहभाव’ भी सघन है और हम में ‘मनोभाव’ भी सघन है। लेकिन हम जैसे लोग हैं—हमें ज़्यादा बुरा तब लगता है जब हमें कोई पागल बोल दे। कोई बोल दे कि “तुम नाटे हो, कुरूप हो”, हमें ज़रा कम बुरा लगेगा, क्योंकि उंगली उठाई गई हमारी ‘देह’ पर। तुम्हारी देह को बुरा बोल दिया जाए, तुम्हें बुरा लगता है, पर तुम झेल जाते हो। तुम्हारे मन को ही बुरा बोल दिया जाए, तुम झेल नहीं पाते हो। बोल दिया जाए कि—“तुम बेवकूफ़ हो”, ये बात तुम्हारे शरीर के बाबत नहीं कही गई है, ये बात कही गई है मन के बाबत—“तुम बेवकूफ़ हो”। देखा है कितना बुरा लगता है? या तुम्हारी धारणाओं पर कोई चोट कर दे—तुम तिलमिला जाते हो। शरीर पर चोट कर दे, एक बार को झेल जाओगे पर धारणाओं पर अगर डंडा पड़ जाए तो हो नहीं सकता कि तुम प्रतिवाद न करो। मुक्ति के लिए वैसे भी तड़प कौन रहा है—शरीर या मन? तुम्हारा अंगूठा कहता है क्या कि “मुझे मुक्त होना है”? मन कहता है न?

मन ही मुक्ति के लिए तड़प रहा है और मुक्ति से ही हम सर्वाधिक घबराते हैं। इसीलिए कल मैंने कह था कि आदमी अपने ही ख़िलाफ़ रची गई साज़िश है।

मुक्ति से ज़्यादा हमें कुछ चाहिए नहीं और मुक्ति से ज़्यादा हम किसी से घबराते नहीं। और अभी हमने कहा कि हम मौत से भी कम घबराते हैं—मुक्ति से ज़्यादा घबराते हैं। मौत को आदमी झेल जाएगा, यही वजह है कि किसी ‘कारणवश’ जान दे देने वालों की तादाद बहुत है। युद्ध होता है, उसमें लाखों मर जाते हैं; इधर के सिपाही, उधर के सिपाही। पर ‘मुक्त’ पुरुषों की तादाद बहुत कम है। शरीर को मौत दे देना हमारे लिए आसान पड़ता है,

रणक्षेत्र में पहुँच जाओ बंदूक लेकर—शरीर को मौत मिल गई। शरीर की मौत हम स्वीकार कर लेते हैं पर 'बुद्धत्व' हमें बहुत कठिन पड़ता है।

शहीद बहुत हैं, बुद्ध बहुत कम। बुद्धत्व असली शहादत है क्योंकि उसमें शरीर नहीं मरता, मन मरता है। तो हम शरीर की शहादत स्वीकार कर लेते हैं। 'बुद्धत्व' अर्थात 'मन' की शहादत स्वीकार करना बड़ा मुश्किल पड़ता है।

आप शरीर को लेकर नहीं परेशान हैं। शरीर तो मन के हाथ में एक खिलौना है। शरीर का तो इस्तेमाल कर रहा है मन—अशांत बने रहने के लिए। मैंने कहा कि शरीर हट गया तो मन कोई और कारण खोज लेगा—उसे तो अशांत रहना ही है। जितनी ऊर्जा हम लगाते हैं अशांत बने रहने में, उसकी तिहाई ऊर्जा, चौथाई ऊर्जा भी हमने किसी सृजनात्मक काम में लगा दी होती तो न जाने क्या खूबसूरत निर्माण हो गया होता। बड़ी-से-बड़ी तमन्ना हमारी यही रहती है कि अपनेआप को छेड़ते रहें। एक सुई लेकर खुद को ही चुभोते रहें। कुछ भी कर लें, बस परेशान रहें। परेशानी आ जाती है तो लगता है जान आई! अब जीने के लिए कोई कारण मिला, नहीं तो बड़ी बेवजह ज़िंदगी जा रही थी।

अब समझना असली अर्थ उस गीत का, जब पुरुष, स्त्री को देखकर बोलता है—"तुम आ गए हो, नूर आ गया है, नहीं तो बड़ी बेवजह ज़िंदगी जा रही थी"। परेशानी ही नहीं थी कुछ! अब वजह मिली जीने की! और अब इस बात को सूत्र की तरह गाठ बांध लो—जो चीज़ तुम्हें परेशान करने की जितनी संभावना रखती है, वो चीज़ तुम्हें उतनी आकर्षित करेगी, और जो चीज़ तुम्हें जितनी आकर्षित कर रही है, वो तुम्हें परेशान करने की उतनी ज़्यादा संभावना रखेगी। आकर्षण से बचना। तुम आकर्षित हो ही इसीलिए रहे हो ताकि तुम परेशान हो सको। और किसी चीज़ से हो परेशान? जिधर को खिंचे चले गए थे उधर से ही अब परेशान हो।

जो कुछ भी तुम्हें बहुत भाता हो, सुहाता हो, खींचता हो, जान लेना कि वो तुम्हें 'भा' इसीलिए रहा है ताकि तुम्हारे लिए वो परेशानी बन सके।

हमारी मूल रुचि ही है 'परेशानी' में। अब समझ में आ रहा है न कि—क्यों मलिन होना आसान है और निर्मल होना मुश्किल? अब समझ में आ रहा है न कि—क्यों बहुत आसान है विकारग्रस्त हो जाना और निर्विकार होने के लिए बड़ी साधना करनी पड़ती है। क्यों समझाने वालों ने कहा है कि ज़िंदगी एक रपटीली ढलान की तरह है; फिसलना आसान है—संभलना मुश्किल है। क्योंकि हमारी मूल-वृत्ति मुक्ति की पक्षधर नहीं है, वो परेशानी की पक्षधर है।

जो बच्चा जन्म लेता है, उसकी मूल रुचि मुक्ति में नहीं है—अशांति में है। ज्ञानी, महात्मा, फ़क़ीर, वेद-उपनिषद हमें बता गए हैं कि हमारा स्वभाव है—शांति। वो बात ठीक होकर भी बहुत उपयोगी नहीं है। तुम अपना मूल स्वभाव याद रखो या न रखो, मूल वृत्ति को ज़रूर याद रखना। मूल स्वभाव भले ही होगा शांति, पर मूल वृत्ति है अशांति—ये बात याद रखना ज़रूर। नहीं तो आदमी अपनेआप को ही बड़े भ्रम में रख लेता है।

बड़ा मीठा लगता है न—"मैं तो शुद्ध-बुद्ध आत्मा मात्र हूँ; निर्मल हूँ, निरंजन हूँ, निर्विकार हूँ, निराकार हूँ"। अजि हटाओ! तुम वो हो जिसे कीचड़ के लोटे बिना चैन नहीं है। कहाँ तुम बात कर रहे हो निर्मल होने की और निर्विकार होने की? आत्मा तो हमारे लिए बहुत दूर का तारा है। आत्मा सत्य होकर भी हमसे बहुत दूर की बात है। इतनी आसानी से मत बोल दिया करो कि "आत्मा मात्र हूँ मैं"। आत्मा तुम बाद में हो, पहले तुम 'वृत्ति' हो। वो वृत्ति कांटों में पैदा होती है और कांटों में ही लहूलुहान रहना चाहती है; शांति उसके लिए मृत्यु समान है।

अपनेआप को पकड़ा करो, दिन भर जो कुछ भी करने में मशगूल रहते हो, पकड़ा करो, कि "ये मैं सिर्फ़ इसलिए कर रहा हूँ न ताकि व्यस्त रह सकूँ, अनुपलब्ध रह सकूँ?" अगर दस बार ये सवाल पूछोगे तो नौ बार जवाब मिलेगा—हाँ।

मैं मान रहा हूँ कि थोड़ी ईमानदारी शेष है। ईमानदारी से अगर दस बार ये सवाल पूछोगे कि "जो भी कुछ कर रहा हूँ, सिर्फ़ इसलिए कर रहा हूँ न ताकि व्यस्त रह सकूँ? अपनेआप को ये सिद्ध कर सकूँ कि—कोई चुनौती है, मैं जिसका सामना कर रहा हूँ; कोई बड़ा युद्ध है, जिसमें मुझे रत रहना है; कोई बड़ा मकसद है, जिसे मुझे पाना है। बस अपनेआप को साबित करना चाहता हूँ न ताकि मैं उसके लिए अनुपलब्ध रहूँ?" तुम्हें उत्तर 'हाँ' में ही मिलेगा—"हाँ, यही बात है"।

देखते नहीं हो, बीस मिनट, आधा घंटा खाली अगर बैठ गए तो तुरंत खोजते हो—"मोबाइल कहाँ है"। कहीं से आफ़त खोद के तो निकालनी है न। अपने घर परिवार में न मिले तो यही पता चल जाए कि दुनिया में कहाँ आफ़त है। पृथ्वी ग्रह पर आफ़त न पता चले तो कहीं और की पता चल जाए। तथ्यों में आफ़त न पता चले तो लाओ भई, कोई किस्सा-कहानी पढ़ लेते हैं। और किस्से-कहानी फ़िर तुमको बताएँगे कि विदेशी ताक़तें—और 'विदेशी' से मेरा आशय पृथ्वी के दूसरे देशों से नहीं है—पारलौकिक ताक़तें, किसी अन्य ग्रह, किसी अन्य आकाशगंगा से आए हुए दूत तुम पर आक्रमण कर रहे हैं—"अब ये आई आफ़त! छोटी-मोटी आफ़त के क्या करने? ये मिसेज़ खन्ना तो रोज़ कचरा फेंकती हैं—पड़ोसन। मज़ेदार आफ़त तो तब है जब किसी और गैलेक्सी से आता हुआ कोई यहाँ पर बड़ी कोई चमत्कारी मिसाइल फेंके। अब कचरे से कुछ हमारी प्रोन्नति हुई।" देखा है ऐसी

फ़िल्में कितनी चलती हैं? हॉलीवुड में साइंस-फिक्शन का अर्थ ही यही होता है। और कुछ नहीं हो रहा होगा—बिलकुल यही है। *उपरोक्त वर्णित ख्याली पुलावों को इंगित करते हुए)* किसी अन्य लोक से अजीब-अजीब से जीव आएँ हैं, उनका एक ही मकसद है—तुम्हें परेशान करना। उनका मकसद है तुम्हें परेशान करना, या तुम उनको गढ़ रहे हो ताकि तुम परेशान हो सको?

तो ये मत सोचना कि किसी भी दिन तुम्हारी परेशानियाँ खत्म हो जाएंगी। अगर तथ्य नहीं बचा परेशानियों का तो तुम परेशानियों को कल्पित कर लोगे। कल्पना को कौन रोक सकता है? अधिक-से-अधिक ये तथ्य के तल पर ही सिद्ध किया जा सकता है न कि अब परेशान होने को कुछ नहीं बचा। कल्पना के तल पर तो अभी कुछ भी कल्पना की जा सकती है। आओ कल्पना करें कि कुछ होने वाला है—"मैं बीमार पड़ गई हूँ। हाथ सुन्न है, लकवा मार गया है, मोबाइल तक पहुँच नहीं रहा है।" कितनी फ़िल्में देखती हैं?

प्रश्नकर्ता: मैं देखती ही नहीं थी।

आचार्य प्रशांत: अरे! इतना गढ़ लेती हैं, बिना टी.वी. देखे? कितना उर्वर दिमाग है!

प्रश्नकर्ता: बहन ने बात करी थी, तब से वो दिमाग में है।

आचार्य प्रशांत: उफ़! गंगा का दोआब है। मुरादाबाद में आप रहती हैं, बगल में गंगा बहती है। ज़मीन ही उपजाऊ है। न जाने उसमें क्या-क्या उगता है। किसी भी चीज़ का बीज डाल दो, तुरंत वृक्ष खड़ा हो जाता है। और बीज-ही-बीज हैं। मूल बीज को 'वृत्ति' कहते हैं।

अभी कल जापान में दो भूकंप के बड़े झटके आए। *(तंज कसते हुए)* बहुत दूर थोड़े ही है जापान! वो झटके ससुरे टहलते-टहलते यहाँ पहुँच गए तो? अभी फटेगी ज़मीन, अभी समा जाओगे। सब खत्म हो जाना है। कल देखा था—बिजली गिरी थी, आज न जाने क्या गिरे? कोई प्रमाण है कि सारे डायनासोर मर ही गए हैं? एक-आधे ऊपर से गिरे तो? इतना ही तो पता है कि विलुप्त हो गए, हो सकता है कोई अंतरिक्षयान बनाकर भग गए हों और एक हो उनमें कोई योडा *(साइंस-फ़िक्शन फिल्म का एक पात्र)* , वो लटक रहा हो यान से और यहीं गिर पड़े। कल्पना के कोई सींग-पूँछ होती है? कुछ भी सोच लो। ऐसा हो जाएगा, वैसा ही जाएगा, फिर क्या?

प्रश्नकर्ता: कभी-कभी आपके वीडियो देखने के बाद, या ऐसे ही मैं खुश हो जाता हूँ कि शांति है। फिर अचानक से मन में आता है कि इतनी बड़ी दुनिया है, ये परेशान है, इनका क्या होगा?

आचार्य प्रशांत: दिक्कत ये है कि दुनिया में सब तुम्हारे ही जैसे हैं। और दुनिया इसलिए परेशान है क्योंकि सब यही सोच-सोच के परेशान हैं कि क्या होगा। आश्रम में इन दिनों बिलकुल टूट-फूट मची हुई है। जिस सभागार में सत्र होता था उसकी छत नीचे आ गई है। खुदाई चल रही है, खंबे खड़े किए जा रहे हैं। तो ये सब चल रहा है। तो ये पिछले पाँच-सात दिन मैं आश्रम में ही सोता था रात को। अपना मज़े में सो रहे हैं। एक दिन एक स्वयंसेवी बोलता है—"यहाँ तो दरवाज़ा ही नहीं है"। तो मैंने कहा—"तो? हम हफ्ते भर से यहीं सो रहे हैं। ये आगे से भी खुला है, पीछे से भी खुला है और ऊपर से भी खुला है।" और बात बिलकुल ठीक है। आश्रम के चार किलोमीटर इधर कोई नहीं बसता, चार किलोमीटर उधर कोई नहीं बसता। न पाताल लोक में है, न ऊपर—कहीं कुछ नहीं है। और कोई फ़र्क नहीं पड़ रहा था। यूँ ही खुले में सोते थे सब। पर एक बार उसने ये कल्पना उठा दी कि कोई आ गया तो? तो अब, सब बेचैन, किसी को नींद न आए। अगर ऐसा हो गया तो?

आपको अपनेआप से पूछना पड़ेगा कि ताले और चोरी में संबंध क्या है? क्योंकि बहुत सारे ऐसे कबीले हैं जहाँ न ताला है न चोरी है। आपको सुविधा होगी ये दावा करने में कि चूँकि चोरी है इसलिए ताला है। मैं आग्रह करूँगा कि थोड़ा बात को पलटकर देखें—ये भी हो सकता है कि शुरुआत ताले से होती हो, क्योंकि बहुत ऐसे उदाहरण हैं जहाँ न ताला है, न चोरी है। कहीं ऐसा तो नही कि चोरी की कल्पना पहले आती हो और चोरी बाद में होती हो? कहीं ऐसा तो नहीं कि अनिष्ट की आशंका पहले आती हो, अनिष्ट बाद में होता हो? कहीं ऐसा तो नहीं कि जिनको आशंका ही नहीं होती कि कुछ बुरा हो सकता है, उनके साथ कुछ बुरा होता भी न हो? ये कैसी बात?

जिन्हें लगता नहीं कि कुछ बुरा हो सकता है, उनके साथ कुछ बुरा होता भी नहीं, और जिन्हें लगता है कि कहीं ऐसा न हो जाए—उनके साथ, जो वो सोच रहे होते हैं, उससे दुगना होता है। नहीं, अब यही क्यों हो सकता है कि एक हाथ में लकवा मार जाए—दूसरा भी तो है?

ये भी तो हो सकता है कि कोई फ़ोन लाए और मुँह के पास रख दे कि "बोलो, डॉक्टर को क्या बताना है?", और पता चले कि जबड़े में भी लकवा मार गया है। शब्द ही नहीं बाहर आ रहे, अब क्या करेंगे? संतों की फ़ाक़ा मस्ती देखिए—"तुलसी भरोसे राम के, निर्भय हो के सोए"।

प्रश्नकर्ता: अब तो मैं यही कहती हूँ।

आचार्य प्रशांत: अब तो बिलकुल यही कहती हूँ, चिंता तो पड़ोसन को हो रही है?

प्रश्नकर्ता: नहीं-नहीं। अतीत में था ये।

आचार्य प्रशांत: अरे, अरे, तो ये प्रश्न अतीत से आ रहा है कहीं से?

प्रश्नकर्ता: हाँ, अतीत का है ये।

आचार्य प्रशांत: सन 1970 लिखा हुआ है इसपर।

प्रश्नकर्ता: अभी मैं जब तनाव में आई थी तब का है ये।

आचार्य प्रशांत: अरे, अरे, अरे, बस, बस, बस, बस, बस! सावधान रहना भाई, मामला ख़तरनाक है।

"अनहोनी होनी नहीं, होनी होए सो होए"

और इसी तर्ज़ पर है कि —

साधु गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेय।
आगे-पीछे हरि खड़े, जब भोगे तब देय।।
~ गुरु कबीर

आगे भी हरी खड़े हैं, पीछे भी हरी खड़े हैं, हम फ़िक्र किसकी कर रहे हैं भई? और अगर आप फ़िक्र कर रहे हैं, तो बहुत यकीन है आपका कि आप आगे-पीछे हरी को खड़ा होने नहीं देते। जिनके आगे-पीछे हरी खड़े हैं, उनको तो फ़िक्र हो नहीं सकती। निश्चित रूप से पूरी आपने व्यवस्था करी है कि हरी न आगे रहने पाएँ न पीछे रहने पाएँ। हरी होते तो इतनी चिंता कैसे होती? देखो, हमारी चिंता अगर सिर्फ़ तथ्यों पर आधारित होती, वस्तुओं के अभाव या वस्तुओं की मौजूदगी से संबंधित होती, तो उस चिंता का इलाज वस्तुगत तल पर संभव हो पाता। अगर आपकी चिंता बस ये होती कि कहीं इस बोतल में पानी कम न पड़ जाए, तो इस चिंता का समाधान करा जा सकता था। दस और बोतलें रखी जा सकती थीं या पानी का कोई स्रोत पता किया जा सकता था। पर ये बात समझने जैसी है कि हमारी चिंता किसी वस्तु को लेकर नहीं होती, हमारी चिंता बस होती है। वस्तु एक बहाना है, हमें तो चिंतित रहना है। इसीलिए वस्तुएँ इकट्ठा कर के जो लोग सोचते हैं कि चिंता के पार चले जाएंगे, वो असफल रह जाते हैं। पश्चिम में वस्तुओं की भरमार है, है न? तुम जितनी वस्तुएँ मांग सकते हो, उपलब्ध हैं। चिंता कम हो गई क्या?

हमारा कार्यक्रम चलता है—"स्पिरिचुअलिटी फॉर साइकोलॉजिकल हेल्थ (एस.पी.एच)"—एक स्वयमसेवी देखते हैं, और अभी ये कल या परसों ही मुझे बता रहे थे कि उसके लिए ज़्यादातर आवेदन बाहर से आ रहे हैं, क्योंकि मनोरोगों का गढ़ ही पश्चिम में है। ऐसी-ऐसी बीमारियाँ हो रही हैं वहाँ पर जिनका इन दुबले-पतले ग़रीब देशों में नाम ही

नहीं पता। वो बीमारियाँ होती ही उनको हैं जो वस्तुएँ इकट्ठा कर-कर के खूब मोटा गए होते हैं। फ़िर ये आता है, बोलता है—"ये नई बीमारी निकली है"। एक-दो बार तो मैंने डाँटा भी है, मैंने कहा ये बीमारियाँ कुछ नहीं हैं; बीमारी सिर्फ़ एक है—'अश्रद्धा'; बीमारी सिर्फ़ एक है—'असमर्पण'। और उसके पचास तरीक़े के तो नाम दे दिए हैं, लंबे-लंबे नाम। क्या-क्या नाम हैं भई—फलाना डिसऑर्डर; और वो डिसऑर्डर ऐसा होगा कि उसको उच्चारित करने भर में ज़बान में डिसऑर्डर हो जाए। बताओ ही मत मुझे इसका नाम क्या है। कहेंगे, "ये वाला है—और बहुत बड़े मनोचिकित्सक हैं, उन्होंने बताया है कि तुमको ये हुआ है।" और है कुछ नहीं, वो ससुरा बस शक्की है। पर उसको अब बता दिया गया है कि तुझे इतनी लम्बी बीमारी है, वो भी छुपी हुई, तो उसको बड़ी तृप्ति मिलती है कि कुछ तो बड़ा हुआ मेरे साथ। उसको शक यही था कि वो जीवन भर कहीं छोटा ही न मर जाए। अब उसे कुछ तो मिला लंबा—क्या? बीमारी। वो बड़ा संतुष्ट है। फिर वो सामने आएगा मेरे, मैं कहूंगा—तुझे तो कुछ है ही नहीं। ले ये दोहा पढ़ और गाया कर सौ बार। उसको तुरंत क्रोध आता है, कहता है—"हमारे जीवन का एक ही तो सहारा था, यही तो तमगा एक हमको मिला था। वो भी तुरंत छीन लिया। कह रहे हैं कि तुम्हें कुछ है ही नहीं, तुम सिर्फ़ शक्की आदमी हो, वेहमी आदमी हो।"

कारण? मानसिक। कारण? आध्यात्मिक। और दे-दना-दन गोलियां फांके जा रहे हैं। गोली फांकने से तुम्हें राम मिल जाएगा? और गोलियों का बाज़ार गर्म है। आप में से भी क्या पता कोई हों। तो जैसे पहले होता था न कि सिरदर्द हो रहा है, वैसे ही अब सबको ही डिप्रेशन है।

अगर आपको डिप्रेशन नहीं है, तो आपको इस वजह से डिप्रेशन होना चाहिए। बहुमत की बात है भई! ढूंढ कर लाओ—किसे डिप्रेशन नहीं है। और मैं कह रहा हूँ—है किसी को नहीं, सब के सब मरीज़ हैं वर्तमान व्यवस्था के, सभ्यता के, विचारधाराओं के, झूठी बौद्धिकता के और प्रगति के। और परेशानी पर मनोचिकित्सक का ठप्पा भी लग जाता है—तो अब तो हम ऑफिशियली परेशान हैं। परेशान तो हमे रहना ही था, अब तो हमें डॉक्टर साहब ने भी बता दिया कि तुम्हें बहुत बड़ा रोग है तो अब तो हम राजकीय रूप से परेशान हैं। कोई वहम? कोई शक? कोई सवाल? नहीं, बिलकुल नहीं। कोई आपत्ति न करे।

सब ये डॉक्टर लोग मिलकर के लगे हुए हैं सबको परेशान सिद्ध करने में, और मुझसे पूछो तो मैं बताऊँ कि डॉक्टरों से ज़्यादा परेशान कोई नहीं है। क्यों डॉक्टर साहब? *(एक श्रोता को सम्बोधित करते हुए)*

घड़ी छीन लो, कंगन छीन लो, पेन छीन लो, चश्मा छीन लो, बस इनकी परेशानियाँ मत छीन लेना। माफ़ नहीं करेंगी तुमको। बाकी कुछ भी छीन लो, माफ़ी है। किसी आदमी से

उसकी परेशानियाँ छीन लीं, तो वो तुम्हें माफ़ नहीं करने वाला।

४. अकेलेपन से घबराहट क्यों?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, क्या अकेलेपन से डरने का कारण अहंकार है?

आचार्य प्रशांत: तुम जब तक दुनिया के सामने रहते हो, तो अपने बारे में सोचने का, या अपने ऊपर ध्यान देने का बहुत मौका रहता नहीं। तुम व्यस्त रहे आते हो। जब दुनिया नहीं सामने होती,सिर्फ़ तुम होते हो, जीवन की ऊब, बेचैनी, छटपटाहट, ये सब सामने खड़े हो जाते हैं, इसलिए अकेलेपन से घबराते हो।

जो स्वस्थ आदमी है वो अकेलेपन से नहीं घबराएगा। जिसके पास भीतर सौ तरह के भूत-प्रेत, पिशाच हैं, वो घबराता है अकेलेपन से क्योंकि उसको पता है कि अकेला हुआ नहीं कि ये सब निकल-निकल के बाहर आएँगे, और नाचेंगे चारों ओर।

अकेले तो हम होते भी नहीं हैं न? हमारे साथ हमेशा कौन होते हैं भीतर? भूत-प्रेत, पिशाच।

जब तक दुनिया के साथ हो, काम में लगे हो, धंधे में लगे हो, बाज़ार में हो,पार्टी में हो, तब तक वो भूत-पिशाच चुपचाप बैठे रहते हैं। कहते हैं कि,"अभी तो बहुत लोग हैं, अभी हम सामने नहीं आएँगे"। और जैसे ही कोई नहीं होता सामने, तुम अकेले होते हो अपने कमरे में, तो भीतर वाले कहते हैं,"अकेले नहीं हो तुम, हम भी हैं न"। और अब तुम गए।

अगर पूरी तरह अकेले होते तो नहीं डरते, भीतर और भी लोग हैं। ये भीतर वालों को हटा दो, अकेलेपन से डर नहीं लगेगा। भीतर जो सब घुसकर बैठे हैं, उनसे कहो,"कमरा खाली करो, चलो निकलो। बहुत हो गया।" उसके बाद अकेलेपन से डर नहीं लगेगा।

हमारी हालत ऐसी है कि जैसे हमारे घर में कोई लुटेरा घुस आया हो, और उस लुटेरे ने हमारी किसी प्यारी चीज़ को पकड़ लिया है, और शाम को घर में उत्सव है, पार्टी और दावत में बहुत सारे मेहमान आए हैं। जब तक वो मेहमान घर में मौजूद हैं, वो लुटेरा क्या

करेगा? वो छुपा हुआ रहेगा। वो भी छुपा हुआ रहेगा और तुम्हें भी उसका ख़याल थोड़ा-सा कम आएगा। क्यों? क्योंकि अभी मनोरंजन है, बातचीत है, नशा है,गाना-बजाना है, इतने मेहमान हैं, दावत है, खाना-पीना है। और फिर रात गहराने लगती है,मेहमान जाने लगते हैं। और ज्यों ही आख़िरी मेहमान विदा होता है और तुम अकेले हो जाते हो, कौन निकल के आता है? वो, जो घर में घुसा हुआ है। इसलिए डरते हो अकेले होने से।

दूसरों को बुलाने की कोशिश कम करो,जो पहले ही भीतर बैठा हुआ है, उसको निकालने की कोशिश ज़्यादा करो।

तुम अकेलेपन से घबराते हो तो दावत दे डालते हो। तुम कहते हो, "लोग आएँगे तो रोज़ जो डर में और सूनेपन में जीता हूँ, उससे निजात मिलेगी।" ये ग़लत दिशा है। क्योंकि जो लोग आएँगे, वो वापस भी जाएँगे। और जब वापस जाएँगे तो फिर कौन निकल के आएगा? वो जो घर मे छुपा हुआ है।

तो दूसरों को बुलाना ज़रूरी नहीं है। ये जो भीतर घुस के बैठा हुआ है, इसको विदा करने ज़्यादा ज़रूरी है। इसको विदा करो। ये ग़ैर-जरूरी है, ये अनावश्यक रूप से तुम्हारे भीतर घुस के बैठा है। जो कुछ भी मन में घुस के बैठा हुआ हो, समझ लो वही सताता है अकेलेपन में। जो भी कोई हो उसको विदा कर दो। मन में जो कुछ भी चलता रहता है, चक्रवत,उससे कहो, "धन्यवाद! आप इतने दिन यहाँ रहे, अब मियाद खत्म हुई, माफ़ी दें।" फ़र्क़ नहीं पड़ता कि मन में क्या चलता है। जो कुछ भी मन में लगातार चलता रहता है उसी को अपना दुश्मन मानना। वही है वो जिसको तुमने नाम दिया है अकेलेपन का। इसीलिए अकेलेपन से घबराते हो।

अकेलापन बराबर (=) "भीतर का चोर"; अकेलापन बराबर "जो बाहर से आया डकैत भीतर का बन गया है"—उसी का नाम है अकेलापन, और वो भयावह है। इसीलिए दुनिया अकेलेपन घबराती है।

तुम्हारा अकेलापन वास्तव में बहुत बाहरी चीज़ है। ये दो मज़ेदार बातें हैं: पहली बात, ये जो तुम कहते हो, "मेरा अकेलापन," ये तुम्हारा अकेलापन नहीं है, बाहरी चीज़ है। ये भीतरी बनके बैठ गई है। और दूसरी बात, अकेलेपन में तुम अकेले बिलकुल नहीं हो, अकेलेपन में तुम्हारे साथ कोई है, उसको भगा दो।

श… कोई है! और ये सिर्फ़ तब सामने आता है जब तुम अकेले होते हो। बाकी समय वो कहाँ रहता है?

प्रश्नकर्ता: छुपकर!

आचार्य प्रशांत: कहाँ?

प्रश्नकर्ता: अंदर!

आचार्य प्रशांत: अंदर।

जब आँखों के सामने दूसरे लोग रहते हैं, तो आँखों के सामने नहीं आता, तब वो कहाँ होता है? तब वो आँखों के पीछे होता है। तब वो आँखों के पीछे बैठकर तुम्हारी दृष्टि को भ्रमित कर रहा होता है। और जब दूसरे लोग हट जाते हैं तो खुद ही सामने आ जाता है।

५. सारा जहाँ मस्त, मैं अकेला त्रस्त

प्रश्नकर्ता: प्रणाम आचार्य जी, शिविर का तीसरा और आखिरी दिन है आज। इन तीन दिनों में खुद के बारे में बहुत कुछ जाना और समझा। इसके लिए मैं आपका बहुत धन्यवाद देता हूँ। मुझसे कहा गया कि शिविर तो अब शुरू होगा जब हम घर जाएंगे।

मेरा सवाल है कि अगर हम सही काम कर रहे हैं तो क्या ज़रूरी है कि वो काम हमें हल्का रखे, शांति दे, आंनद दे—जैसा कि सुनने में आता है? जो काम सही होता है उसे करने में भीतर से कष्ट और विरोध क्यों उठता है? मैं अभी कच्चा साधक हूँ, नई शुरुआत हुई है, खुद को बहुत बार कमज़ोर होता पाता हूँ, लड़खड़ाता हुआ देखता हूँ। क्या मुझे कोई एक बात, एक मंत्र, एक शब्द आपसे मिल सकता है जिसे याद करके, सुनके, मैं जब भी फिसलूँ तो दोबारा खड़ा हो जाऊँ?

आचार्य प्रशांत: पूछा है कि क्या ज़रूरी है कि सही काम करने पर शांति का, हल्केपन का और आनंद का ही अनुभव हो। बिलकुल ज़रूरी है पर कुछ बातें ध्यान में रखनी होंगी।

आपके पास एक थर्मामीटर था। वो कब का खराब हो गया था। उसे शायद जानबूझकर खराब कर दिया गया था। और उसकी सुई, उसका कांटा, 98.4 फ़ारेनहाइट पर रोक दिया गया था, बाँध दिया गया था। आप जब भी उससे अपना ताप नापते, थर्मामीटर उत्तर देता —"सामान्य है, 98.4 है"। आप गलत ज़िन्दगी जीते रहे, जीवन में ताप बढ़ता रहा, उत्तेजना बढ़ती रही, बुखार, ज्वर बढ़ता रहा। थर्मामीटर आपको झांसा देता रहा। वो आपको लगातार यही बताता रहा—"98.4—सामान्य है, 98.4 —सामान्य है"। आप 101 पर पहुँच गए, वो अभी आपको यही बता रहा है कि "सामान्य है"। और चूंकि वो बता रहा है कि सामान्य है, आप उसकी बात मान रहे हैं। तो आपको लगा कि अभी तो सब ठीक है, जैसी हम ज़िन्दगी जी रहे हैं, इसको और ज़्यादा ऐसे ही जिया जा सकता है। तो वो गलत ज़िन्दगी जिसने आपका ताप बढ़ा दिया, उसी को आपने और बढ़ा दिया। जिन गलत धारणाओं, मान्यताओं के कारण आपका जीवन जलने लगा, आपने उन गलत मान्यताओं,

धारणाओं को गलत जाना ही नहीं क्योंकि थर्मामीटर तो आपको लगातार यही बता रहा था कि सब—सामान्य है। 101 जब था, उसी समय आपको पता चल जाता कि 101 है, तो शायद आप थोड़ा-सा चेतते, कुछ सावधानी करते, कुछ होश बरतते, किसी तरीके से अपना तापमान गिराते। पर 101 पर भी आपको यही कहता रहा कि सब ठीक है —"सामान्य हो तुम। जो तुम कर रहे हो, जैसे तुम जी रहे हो, ये बिलकुल ठीक है। यही तो सामान्य है, ऐसे ही तो होना चाहिए।" तो नतीजा ये हुआ कि आपका बुखार, आपकी ही हरकतों से और बढ़ता रहा—102 हो गया, 103 हो गया। और आपकी आदत लग गयी है 102-103 में जीने की। और कोई तरीका नहीं था आपको ये ज्ञात होने का कि आप बहुत बीमार हैं। आप दूसरों का हाथ पकड़ते, उनके हाथ भी उतने ही जल रहे थे। क्योंकि सबके थर्मामीटर एक ही हैं।

वो थर्मामीटर किस फैक्टरी से निकले हैं, जानते हैं आप? वो थर्मामीटर निकले हैं शरीर एंड समाज एंड सन्स प्राइवेट लिमिटेड। ये वहाँ के उत्पाद हैं। एक ही थर्मामीटर है पूरे समाज के पास। एक ही थर्मामीटर है उन सबके पास जो शरीर धारण करके घूम रहे हैं। तो आपको कभी-कभार शक भी होता कि ज़िन्दगी लगता नहीं कि कुछ ठीक चल रही है। भीतर कुछ उबलता सा रहता है। कुछ धुआँ सा उठता रहता है लगातार। तो आप जाते हैं अपने प्रियजनों के पास। हाथ छूकर कहते हैं, "ज़रा बताना, मेरा शरीर कुछ गर्म है क्या?" आप 103 पर हैं। लेकिन बात इतनी-सी है कि आप जिसका हाथ पकड़ रहे हैं, वो भी 103 पर है, बल्कि हो सकता है वो 104 पर हो। आप उससे पूछ रहे हैं कि "बताना ज़रा, क्या मुझे बुखार है?" और वो जवाब में कह रहा है कि "अरे! तुम्हारा शरीर तो ठंडा पड़ा है"। और बिलकुल सही बात है, 104 की तुलना में 103 तो ठंडा ही पड़ा हुआ है। तो बोलता है, "तुम्हारा शरीर तो ठंडा पड़ा हुआ है। ज़रा गर्मी लाओ। ज़रा तेज़ी लाओ जीवन में। थोड़ी उत्तेजना बढ़ाओ। कुछ ताप नहीं है तुम्हारे पास, बड़े ठंडे आदमी हो।" तो आप कहते हैं, "अरे, हम ही पीछे रह गए। लगता है हम असामान्य हुए जा रहे हैं।" तो आप कहते हैं, "अभी तो और बढ़ सकते हैं"। आप 104 पर पहुँच गए। अब ये 104 आपके लिए सामान्य बन चुका है क्योंकि जन्म से आपने देखा ही यही है। ये जो 104 है, ये आपके लिए पूर्णता है, सामान्य है। मन-ही-मन इससे सामंजस्य स्थापित कर चुके हैं। आप पूरी तरह से समायोजित हो चुके हैं।

हालत यहाँ तक पहुँच चुकी है कि आपको वाकई कोई मिलता है जो 98.4 वाला ही है, तो उसको आप मुर्दा घोषित कर देते हैं। आप कहते हैं, जैसे मुर्दे का शरीर ठंडा पड़ जाता है, इसका शरीर ठंडा पड़ा हुआ है। आप कहते हैं, "देखो 98.4 पर हम हैं, और ये हमसे 6 डिग्री नीचे है, तो ज़रूर ये 92 पर है।" हकीकत ये है कि आप 104 पर हैं, वो 98 पर है। लेकिन आपकी ज़िद्द है कि आप 98 पर हैं। और अगर आप 98 पर हैं तो आपके अनुसार

वो आपसे 6 डिग्री नीचे, माने वो 92 पर है। तो जो सामान्य है, उसको आपने असामान्य घोषित कर दिया। कह दिया कि ये मुर्दा लोग हैं, इन्हें ज़िन्दगी जीना नहीं आता। इनकी ज़िन्दगी में कुछ ऊष्मा नहीं है, कुछ तेजाइ नहीं है। ज़रा भी गर्मी नहीं है भई। बड़े ही बर्फ जैसे गड़े हुए मुर्दे हैं ये।

तो ये सब चल रहा है। अब एक दिन कोई मिलता है आपसे, उसका धंधा ही है थर्मामीटर ठीक करना। उसने मिशन ही यही चला रखा है कि बेटा तुमको ठीक करूँ उससे पहले तुम्हारा थर्मामीटर ठीक करना ज़रूरी है। तुम्हारी ज़िन्दगी बदले, इससे पहले तुम्हारी ज़िन्दगी के पैमाने बदलना ज़रूरी हैं। तुम्हारे जीवन में सरलता आए, शांति आए, सच आए, उससे पहले तुम्हारे स्टैंडर्ड्स बदलने ज़रूरी हैं। तुम्हारे मापदंड बदलने ज़रूरी हैं। तो उसने आपका थर्मामीटर लिया और थर्मामीटर ठीक कर दिया। थर्मामीटर जैसे ही ठीक हुआ, वैसे ही आपको पता चला कि आप तो 103 पर बैठे हैं। असल में थर्मामीटर ठीक होते ही एक डिग्री तापमान अपनेआप कम हो जाता है। वो बीमारी है ही धोखे की और भ्रम की। जैसे ही भ्रम का पहला चरण मिटा, थोड़ा तापमान तो अपनेआप घटा। तो आपने फिरसे ज़रा मुँह में थर्मामीटर लिया और तापमान मापा, और आया 103। आप चौंक कर खड़े हो गए, बोले, "ये क्या हो गया मेरे साथ?" और आपके दिमाग में तूफान चलने लगे, बिजलियाँ कड़कने लगीं। आपने कहा, "इस आदमी ने मेरे साथ कुछ बहुत गलत कर दिया है। इसने मुझे बुखार में धकेल दिया है।" उसने बुखार में नहीं धकेल दिया है। उसने तो बल्कि बुखार कम करने की शुरुआत कर दी है।

तुम पूछ रहे हो कि क्या अध्यात्म के रास्ते पर, क्या सच्चाई के रास्ते पर, क्या समझदारी और बोध के रास्ते पर शांति, आनन्द और हल्कापन निश्चित रूप से मिलते हैं? वो इसपर निर्भर करता है कि तुम अपनी तुलना किससे कर रहे हो। आज तुम 103 पर खड़े हो और अपनी तुलना 98 से करोगे तो तुम कहोगे, "नहीं, अध्यात्म ने तो मुझे बर्बाद कर दिया। मैं पहले 98 पर था और अब 103 पर आ गया।" लेकिन अगर अपनी तुलना तुम अपने वास्तविक तापमान से करोगे, तो तुम 104 पर थे, 103 पर आए हो। तुम्हें शांति मिली है, तुम्हें हल्कापन मिला है। लेकिन आमतौर पर लोगों में इतनी ईमानदारी नहीं होती कि वो अपनी वास्तविक हालत से अपनी बेहतर हालत की तुलना कर सकें।

 शिविर में तुमने तीन दिन लगाए हैं—कुछ तुम को बेहतरी मिली है, कुछ तुम्हारी प्रगति हुई है, कुछ तुम में शीतलता आई है। तुम 104 पर थे, 103 पर आ गए हो। लेकिन ये 103 शांति कहलाएगा, हल्कापन कहलाएगा, आनन्द कहलाएगा या नहीं कहलाएगा, वो उसपर निर्भर करता है कि तुम 103 की तुलना 104 से कर रहे हो या 98 से कर रहे हो। सच्चे आदमी हो अगर तुम तो इस 103 की तुलना

तुम 104 से करोगे। तुम कहोगे कि "मेरे जीवन में बड़ी ज़बरदस्त गड़बड़ थी—104 डिग्री की गड़बड़ थी, अब वो 103 डिग्री की हो गई। हाँ, मुझे शांति मिली, मुझे हल्कापन मिला। मेरा ताप, मेरा ज्वर कुछ कम हुआ।" तुम्हारे मन में अनुग्रह रहेगा। लेकिन अगर तुम झूठे आदमी हो तो तुम कहोगे, "मैं तो 98 पर था पहले। इन्होंने न जाने क्या कर दिया कि मैं 103 पर आ गया। ये अध्यात्म का रास्ता ही गड़बड़ है। ये साधना वगैरह, स्वाध्याय वगैरह बड़ी खतरनाक बातें हैं। ये आदमी को बीमार कर देती हैं। मुझे देखो न, मैं अच्छा भला आया था, एकदम चंगा आदमी था मैं। 98 पर मैं आया था, जब से मैंने अवलोकन शुरू किया, जब से मैंने ज़िंदगी को जानना-समझना शुरू किया, जब से मैंने दूध-का-दूध और पानी-का-पानी करना शुरू किया, जब से मैंने सच-को-सच और झूठ-को-झूठ बोलना शुरू किया—मैं 98 से 103 पर पहुँच गया। अरे! ये सच का रास्ता ही बेकार है, ये आदमी को बीमार कर देता है।"

अब वो तुम्हारी ईमानदारी पर निर्भर करता है कि तुम मानते हो कि तुम बीमार कर दिए गए हो या तुम ये स्वीकार करते हो कि तुम्हारा उपचार शुरू हो चुका है। ज़्यादातर लोगों को यही लगता है कि जब से सच के रास्ते पर चले हैं, जब से ज़िन्दगी की हकीकत से रू-ब-रू हुए हैं, जब से आँखें ज़रा खोली हैं, जब से होश ज़रा सा दृढ़ हुआ है—जीवन में दुःख, उदासियाँ, संघर्ष, कलह, कलेश बढ़ ही गए हैं। ये ज़्यादातर लोगों का अनुभव है, वो यही कहते हैं। वो कहते हैं—"पहले ही सही था। नशे से भरी हुई ज़िन्दगी थी, पर हस्ते थे, गाते थे, औरों की तरह चहकते थे, सामान्य कहलाते थे—98.4। जैसे सब हैं, वैसे ही हम भी थे। वीकेंड पर दारू पीते थे। हर 2-3 महीने में एक बार घूमने चले जाते थे। जितनी घटिया पिक्चरें रिलीज़ होती हैं, सब में मुँह मार आते थे। औरों की तरह सोशल मीडिया पर छितराए-छितराए पड़े रहते थे। जैसे ज़माना चल रहा है, ज़माने के पीछे-पीछे हम भी चल लेते थे। कोई दुःख नहीं था बहुत, कोई असुविधा नहीं थी बहुत। बीच-बीच में भीतर कुछ दर्द सा उठा करता था पर उसे हम दबा दिया करते थे। कभी-कभी उठता था। कोई बड़ी दिक्कत की बात नहीं है। और उस दर्द को दबाने के विशेषज्ञ ज़माने में बहुत मौज़ूद हैं। हम उनसे सलाह लिया करते थे। वो जो भी गोलियां दे देते थे—कभी एनालजेसिक, पेनकिलर, कभी कुछ और। वो हम ले लेते थे। कभी मनोरंजन, कभी नशा, कभी पैसा, कभी भृमण, कभी रोमांच, कुछ थ्रिल, कुछ सेक्स—ये सब मिल जाते थे तो भीतर जो दर्द उठ रहा होता था वो दब जाता था। और कभी-कभार ऐसा होता था जब साल-दो साल में एनालजेसिक भी काम नहीं करते थे तो छोटा-मोटा एनेस्थीसिया ले लेते थे। हो जाता था सब। लेकिन ये जब से ग्रन्थों को पढ़ा है, जब से कृष्ण की बात सुनी है, जब से उपनिषदों की वाणी हम तक पहुँची है, जब से संतो के गीत कानों से टकराए हैं—तब से बड़ी गड़बड़ हो गयी है। सारा जहाँ मस्त, मैं अकेला त्रस्त। मेरी ही हालत खराब है, सब मौज कर रहे हैं, हैप्पी-हैप्पी

हैं। मेरी हालत देखो, मैं ही अकेला सिकन्दर-साधक निकला हूँ। बड़ी खराब हालत है मेरी।"

ज़्यादातर लोगों का यही अनुभव रहता है। वो ऐसे ही आपबीती बयान करते हैं। तुम भी ये कर सकते हो। खुद को बेवकूफ बनाने के बहुत तरीके हैं, जो चाहो वो चुन लो। नए-नए तरीके ज़माना ईजाद भी करता रहता है। एक तरीके से ज़्यादातर चीज़ें जो ईजाद होती हैं, वो खुद को बेवकूफ बनाने का एक नया बाज़ारू ज़रिया ही होती हैं, और कुछ नहीं। जिसको तुम कहते हो 'प्रगति', जिसको तुम कहते हो 'टेक्नोलॉजिकल इन्नोवेशन' *(तकनीकी नवाचार)* , अगर गौर से देखोगे तो पाओगे कि उसमें से ज़्यादातर और कुछ नहीं है, आदमी के मन को बहलाए रखने की कोशिश है। वो बहलाए रखने की कोशिश बहुत ज़रूरी है नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि किसी दिन किसी ज़रा भोले-भाले आदमी को पता चल जाए कि 98, 98 नहीं है, 104 है! उसको मूर्ख बनाए रखने के लिए बाज़ार में नई-नई चीज़ों का उतरना बहुत ज़रूरी है। वो मूर्ख बना रहे और भ्रमों में ही उलझा रहे, इसके लिए बहुत ज़रूरी है कि जीवन में उसको एक के बाद एक प्रलोभन देते रहो। जीवन में एक के बाद एक तुम उसको संकल्पों, कर्तव्यों में बाँधते रहो। उसको बताते रहो कि अब ये काम कर लिया बेटा, अब अगला काम ये कर। अब ज़िन्दगी में ये चीज़ निपटा ली बेटा, अब अगली चीज़ ये निपटा। बहुत ज़रूरी है कि उसको किसी-न-किसी झूठे तरीके से व्यस्त रखो, नहीं तो ज़िन्दगी की हकीकत खुल जाएगी उसपर। और ऐसा आदमी खतरनाक हो जाता है एक बार वो जान गया 98, 98 नहीं 104 है—फिर वो घूम-घूम कर सबको बताएगा। झूठ का कितना भी प्रचार कर लो, झूठ डरा हुआ ही रहता है। और सच का जैसे ही थोड़ा सा प्रचार होने लग जाता है, झूठ तिलमिला उठता है।

शिविर के बाद निश्चित रूप से जीवन में शांति आएगी। लेकिन जब तुम शांति कहते हो तो तुलनात्मक रूप से कहते हो न? वो तुलना बस तुम सही करना। 103 की तुलना 104 से करी तो पता चलेगा कि हाँ जीवन में शांति आयी है। और 103 की तुलना अगर तुम 98 से कर बैठे तो तुम्हें लगेगा कि अध्यात्म ने बर्बाद कर दिया तुमको। मेरे पास लोग आते हैं और कई बार धोखे से ईमानदारी के किसी क्षण में कह ही जाते हैं कि आचार्य जी आपके पास आए, बड़ी संगत की बड़ी बातें सुनी, बड़ा पालन भी किया लेकिन वो सब नहीं मिला जो हमें चाहिए था। बड़ा दर्द रहता है लोगों के दिलों में। मैं पूछता हूँ कि इस बात के लिए शुक्रगुज़ार नहीं हो तुम मेरे कि तुम्हें वो सब नहीं मिला जो तुम्हें चाहिए था? मेरा काम तुम्हें वो देना नहीं है जो तुम चाहते हो। तुम बस ये बता दो कि जैसे तुम थे मेरे पास आने से पहले, और जैसे तुम आज हो मेरे पास आने के बाद, क्या तुम दोबारा वैसा होना चाहोगे जैसा यहाँ आने से पूर्व थे? बोलो? और अगर होना चाहते हो तो मेरे पास है एक जादुई डंडा। आजकल ये सब बहुत चलते हैं। मेरे पास भी है एक जादुई डंडा। मैं तुमको फिर वैसा

ही करे देता हूँ जैसा तुम आने से पहले थे, बोलो चाहिए? कहते हैं, "नहीं, नहीं, वैसा तो अब हम किसी भी हाल में नहीं होना चाहेंगे जैसे हम पहले थे। वो आदमी ही बड़ा मूर्ख था। न जाने कैसे-कैसे हास्यास्पद भ्रम पाले बैठा था। जो बातें बिलकुल प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट, वो भी उसको दिखाई नहीं देती थी। तो वैसा तो हम किसी हालत में नहीं होना चाहते जैसा हम आपसे मिलने से पहले थे आचार्य जी।" मैं कहता हूँ कि बस मुँह बन्द रखो और ज़िन्दगी को सही दिशा में आगे बढ़ाते रहो।

शांति की तुम्हारी जो परिभाषा है वो एक अशांत मन से आ रही है—तो तुम्हारी शांति की परिभाषा ही गलत है। हल्केपन की तुम्हारी जो परिभाषा है वो बड़े भारी केंद्र से आ रही है—तुम्हारी हल्केपन की परिभाषा ही गलत है। हित की और आनंद की जो तुम्हारी परिभाषा है वो बड़े नशे, बड़े बेहोशी के केंद्र से आ रही है—तो तुम्हारी हित की और आनंद की परिभाषा ही गलत है। मैं यहाँ पर तुम्हें तुम्हारी गलत परिभाषाओं के अनुसार झूठी शांति, झूठा आनंद, झूठा हल्कापन देने के लिए नहीं हूँ। मेरा काम है तुम्हारा थर्मामीटर ही ठीक कर देना, तुम्हारे पैमाने ही बदल देना। तुम्हारा जो भीतर वैल्यू सिस्टम है, जीवन के मूल्यांकन की भीतर जो व्यवस्था बैठी हुई है, मेरा काम है उसपर रोशनी डालना ताकि तुम सही चीज़ को मूल्य देना सीख सको और मूर्खताओं को कीमत देना बंद कर सको।

तुम कहते हो, "आचार्य जी, क्या ज़रूरी है सच के रास्ते पर शांति मिले?"—अच्छा ठीक है, चलो थोड़ा इसी बात की विवेचना कर लेते हैं। पिछली बार तुम्हें शांति कहाँ मिली थी? तुम कहोगे, "पिछली बार बड़ी शांति मिली थी जब वो एक फलाना दुश्मन है मेरा, उसको दो पड़वाये मैंने किसी से। बड़ा सुकून मिला, दिल बिलकुल ठंडा हो गया।" ये तो तुम्हारी शांति की परिभाषा है। किसी से प्रतिस्पर्धा करके आगे निकल गए तो तुम कहते हो कि ठंडक मिल गई, शांति मिल गई। तुम्हारी मनचाही मुरादें, जिन में से ज़्यादातर भोगकेंद्रित होती हैं, वो पूरी हो जाएं तो तुम कहोगे बहुत शांति मिली। कोई व्यर्थ की चीज़ पकड़े बैठे हो, उसके छिन जाने का तुमको डर था। संयोगवश वो चीज़ तुमसे छिनी नहीं, तुम कहते हो, अब शांति मिली नहीं तो हम तो डर से पगलाए जा रहे थे। पिछले एक हफ्ते ठीक से नींद नहीं आई, बड़ा अशांत रहा। क्यों? वो लग रहा था कि मेरी फ़लानी चीज़ छिन न जाए। वो चीज़ दो धेले की नहीं, जीवन में उसकी कोई कीमत नहीं लेकिन उसकी सुरक्षा को लेकर तुम बड़े अशांत थे। वो चीज़ें संयोगवश नहीं छिनी अभी और तुम कह देते हो शांति मिल गई। ये तुम्हारी शांति की परिभाषा है। अब तुम पूछ रहे हो कि सच के रास्ते पर शांति मिलेगी कि नहीं मिलेगी? वो पुरानी वाली नहीं मिलेगी भाई। तुम्हारी परिभाषा ही गलत थी। जब तुम मुझसे कहते हो, "आचार्य जी, आपकी बात सुनेंगे तो क्या शांति मिलेगी?" नहीं, वो वाली शांति नहीं मिलेगी जो तुम्हें पहले मिला करती थी, क्योंकि वो शांति ही झूठी थी। लेकिन आज भी जब तुम शांति शब्द का प्रयोग करते हो तो तुम्हारा आशय वो पुराना वाला ही

होता है। मेरा काम है तुम्हारे आशयों को बदल देना, मेरा काम है तुम्हारी परिभाषाओं को बदल देना—ताकि तुम जान सको कि पहले जिसको तुम शांति कहते थे, वो शांति थी ही नहीं; ताकि तुम जान सको पहले जिसको प्रेम कहते थे वो प्रेम नहीं था; पहले जिसको आनन्द कहते थे वो आनन्द नहीं था; पहले जिसको तुम सामान्य कहते थे, वो सामान्य नहीं था। पहले तुम जिसको 98.4 कहते थे, वो 98.4 था ही नहीं। तुम्हारे साथ धोखा किया गया था।

इसी तरीके से आनन्द। आनन्द को लेकर भी तुम्हारे पास एक छवि है। मैं पूछूँ, ज़रा बताना पिछली बार आनंदित कब हुए थे, तो तुम बता दोगे। तुम कहोगे, "पिछली बार जब नए फ्लेवर का मटन पिज़्ज़ा उतरा था मार्केट में और उसमें मैंने अपने वहशी दाँत गड़ाए थे, तब तो अहा हा हा हा हा! क्या आनन्द आया था, पूछिए ही मत।" ये तो तुम्हारी आनन्द की परिभाषा है। अब तुम चाहते हो कि सच के रास्ते पर भी तुम्हें आनन्द मिले, ऐसा आनन्द मिले। नहीं, बिलकुल नहीं मिलेगा। अगर आनन्द वो है जो तुम्हें मटन पिज़्ज़ा में दाँत गड़ाने से मिलता था तो फिर तो सच के रास्ते पर तुमको बिलकुल आनन्द नहीं मिलेगा, बल्कि तुम्हारा पिछला आनन्द छिन जाएगा। और लोग यही तो शिकायत करते हैं। कहते हैं, "पहले जीवन आनन्दित चल रहा था आचार्य जी। जब से आपकी काली छाया ज़िन्दगी पर पड़ी है, सब आनन्द छिन गया है।" तुम्हारे आनन्द का मतलब ही है मटन पिज़्ज़ा। जिसको तुम 'जॉय' बोलते हो, देखो न वो कितनी घटिया चीज़ है। हम ऐसे लोग हैं जिन्होंने 'जॉय' शब्द को ही विकृत कर दिया है। हम ऐसे शख्स हैं जिन्होंने 'जॉय' शब्द को ही बाज़ारू बना दिया है। कुछ तुम्हें भोगने को मिल जाए, तुम कहते हो 'जॉय'—उसी से आता है 'एन्जॉय'। कैसी-कैसी चीज़ों को तो तुम एन्जॉय कर लेते हो। ये तुम्हारे आनन्द की धारना है। इस धारना को तो टूटना होगा न, इस धारना को मैं आगे थोड़े ही बढ़ने दूँगा। मैं ये थोड़ी कहूँगा कि पहले जिस तरीके से तुम जॉय और आनंद भोग रहे थे दुनिया में, मेरे पास आओगे तो मैं उसी तरह का और अतिरिक्त तुम्हें जॉय या आनंद दे दूँगा। बिलकुल भी नहीं।

इसी तरीके से 'हल्कापन'। तुमने कहा—"आचार्य जी, क्या ये सही है कि जो सच के रास्ते पर चलते हैं उनकी ज़िंदगी में एक हल्कापन रहता है?" हल्कापन तो बिलकुल रहता है लेकिन तुम्हारे 'हल्केपन' की परिभाषा ही गज़ब है। फिर पूछता हूँ, जैसे दो बार पूछा है, तीसरी बार। पिछली बार बताना हल्कापन कब महसूस हुआ था? हमारे लिए हल्केपन का मतलब क्या है? हल्केपन का मतलब है पूरा हफ्ता तनाव में बीता। पैसे के लिए और सुरक्षा के लिए और समाज के और लोगों के दबाव में आकर के घटिया नौकरी कर रहे थे। पूरा हफ्ता ही पूरे तनाव में बीता। किसी घटिया बॉस की गाली खा रहे हैं, और उसके बाद शनिवार की रात को दोस्तों के साथ बैठकर के खूब दारू पी, और कहे, "हल्के हो गए"। ये तो तुम्हारे हल्केपन की परिभाषा है। अब इसी परिभाषा को आधार बनाकर तुम मुझसे

पूछते हो, "आचार्य जी, सच के रास्ते पर भी हल्कापन मिलेगा क्या?" भाई, वो वीकेंड की दारू वाला हल्कापन नहीं मिलेगा सच के रास्ते पर। तुम अपनी परिभाषा ठीक करो। तुम अपने शब्दों में पहले सही अर्थ भरो, फिर बात करो। और क्या है हल्केपन की परिभाषा? कि कुँवारे हैं, घूम रहे हैं, कोई मिल गई, उसके साथ वन नाइट स्टैंड कर लिया। शरीर में जो ताप भरा हुआ था, शरीर में जो तमाम रस-रसायन भरे हुए थे उनका थोड़ा उत्सर्जन कर दिया। जैसे किसी आदमी का ब्लैडर बिलकुल फूला हुआ हो और उसको मूत्रालय दिख जाए, तो वो कहेगा—बड़े हल्के हो गए। हल्के होने का इसी आशय में सुना है न उपयोग? बहुत लोग करते हैं। टट्टी आ रही है, पेशाब आ रही है और कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा कि कहाँ जाकर के मूत्र त्याग, मल त्याग करें—फिर एक झाड़ दिख जाता है तो कूद के झाड़ पर चढ़ जाते हैं और बाहर निकलते हैं थोड़ी देर बाद, उनके चेहरे पर अद्भुत हल्कापन रहता है और कहते हैं, "आ हा हा हा हा, फ़ीलिंग सो लाइट, बड़ा हल्का अनुभव कर रहा हूँ।" ये तो तुम्हारे हल्केपन की परिभाषा है। सच के रास्ते पर हल्कापन फिर थोड़े ही मिलेगा तुमको, परिभाषाएँ ही गलत हैं। ठीक तो करो पहले परिभाषाएँ।

हल्कापन मिलेगा, असली हल्कापन मिलेगा। और हल्कापन तुम तभी अनुभव कर पाओगे, इस नए हल्केपन को तुम तभी सम्मान दे पाओगे जब पहले तुम मानोगे कि तुम अध्यात्म से पहले कितने भारी थे। 103 तापमान में भी तुम अनुग्रह से तभी भरे रहोगे जब पहले तुम मानोगे कि तुम पहले 104 पर थे, अन्यथा तुम्हारे मन में किसी तरह का कोई अनुग्रह नहीं उठेगा। तुम तो बल्कि किसी झूठे 98 वाले सपने से तुलना करोगे और कहोगे, "बर्बाद हो गए। ठीक ही तो चल रहा था सब कुछ।"

तो अध्यात्म निश्चित रूप से जीवन में हल्कापन लाता है लेकिन हल्के तुम हुए हो या नहीं हुए हो, मैं कह रहा हूँ, ये समझने के लिए तुम्हें पहले देखना पड़ेगा कि तुम्हारा वर्तमान जीवन ही कितना भारी है। एक बार इस बात की अभिस्वीकृति उठेगी भीतर से, तब कहोगे कि, "हाँ हाँ हाँ, पहले मैं अपने ऊपर 250 किलो का वज़न रख के चल रहा था और अब वो वज़न 225 किलो का है तो मैं हल्का हो गया"। लेकिन 225 किलो का वज़न तो अभी भी है तुम्हारे ऊपर। अगर तुम अपनेआप को यही सांत्वना देते रहोगे कि नहीं मेरे ऊपर तो कोई वज़न था ही नहीं, तो अब तुमको लगेगा नया-नया तुमपर 225 किलो का वज़न डाल दिया गया है और तुम बड़े रोष से भर जाओगे। तुम्हारे भीतर सच के प्रति बड़ा विरोध उठेगा। तुम कहोगे कि पहले तो मेरे ऊपर कुछ वज़न था ही नहीं, अभी-अभी 225 किलो डाल दिया गया है। बाबा, तुमपर 225 किलो डाल नहीं दिया गया, तुम्हारा 25 किलो वज़न घटा दिया गया है। यहाँ आने से पहले तुम 250 किलो का वज़न अपने सर पर रख के चल रहे थे। मानो पहले।

मुझे इतनी बार क्यों तुम्हें समझा-समझा के कहना पड़ रहा है कि मानो पहले, कारण बताए देता हूँ। अहंकार को ये मानने में बड़ी तकलीफ होती है कि आज से पहले वो एक बहुत घटिया और बड़ा मूर्खतापूर्ण जीवन बिता रहा था। लेकिन कोई सुधार तुम्हारे जीवन में आ सके, इसके पहले तुम्हें मानना पड़ेगा न कि ज़िन्दगी घटिया जा रही है, बेमकसद जा रही है—न ओर है न छोर; न कोई तर्क है न तुक। अंधी बेहोशी में बस जिए जा रहे हैं। ये मानना पड़ेगा न। हमें ये मानने में बड़ी तकलीफ होती है। हम कैसे मानें कि हमने अपनी पिछली 20 साल की, 30 साल की, 50 साल की, 70 साल की ज़िन्दगी अंधी बेहोशी में गुज़ार दी है। तो हम मानते ही नहीं है, हम कहते हैं, "नहीं, हम ठीक ही जी रहे थे। 98.4 पर जी रहे थे, सामान्य थे।" हम मानते ही नहीं। जब तुम अभी तक ठीक ही जी रहे थे तो फिर अब तुम्हें किसी नए उपाय की, किसी नए रास्ते की ज़रूरत क्या है? भइया, जीते जाओ वैसे, जैसे जी रहे थे, मेरे पास मत जाओ। मेरे पास आओ तो पहले ईमानदारी से ये स्वीकार करके आओ, ये मान के आओ कि हाँ जीवन में समस्या है, जीवन में बड़ी नादानियाँ, बड़ी बेवकूफियाँ करी हैं। उसके बाद फिर यहाँ जो सुधार होगा, उस सुधार को तुम सम्मान दे पाओगे।

६. किसको मान रहे हो अपना?

प्रश्नकर्ता: अर्जुन की भक्ति और सौभाग्य कि उन्हें श्रीकृष्ण का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ, वो कर्म और कर्त्तव्य के मार्ग पर चल सके। पर साधारण मन और जीवन के लिए ये इतना सरल नहीं लगता। अपनों के विरुद्ध जाकर विजय-उत्सव मनाना कैसे सहज है, कृपया कुछ स्पष्ट करें।

आचार्य प्रशांत: वो तो इसपर निर्भर करता है आपकी "अपनों" की परिभाषा क्या है और अपनों की "आपकी" परिभाषा क्या है। वो इस पर निर्भर करता है कि "स्वयं" की आपकी परिभाषा क्या है।

स्वयं को अगर आप देह मानेंगी तो आप अर्जुन को भी देह मानेंगी क्योंकि आपके अनुसार फिर इंसान "देह" ही होता है। और अर्जुन अगर देह है तो उसके अपने हुए वो सब जिनसे उसका देह का रिश्ता है—कुल-कुटुम्ब वाले, भाई, चाचा, ताऊ, पितामह। तो उनको आपने तत्काल कह दिया कि "अरे, वो तो अर्जुन के अपने हैं"।

कैसे हैं वो अर्जुन के अपने? समझाइए तो।

थोड़ा विचार करिए, कैसे आपने कह दिया कि कोई आपका अपना है? अपना कैसे? किस दृष्टि से अपना? और किनको अपना कह रहे हो? उन्हीं को न जिनसे रक्त, माँस और गर्भ का संबंध है। जिनकी रगों में तुमसे जुड़ा हुआ खून दौड़ रहा है, उनको तुरंत कह देते हो, "ये मेरे अपने हैं", या जो सहोदर हैं तुम्हारे, उनको कह देते हो "ये मेरे अपने हैं"। सब बात शरीर की ही है न? खून, माँस, उदर। तो देख रहे हो कि "अपनेपन" के पीछे क्या बैठा हुआ है? सघन देहभाव। जो ही मेरे शरीर से संबंधित है, मैं उसको बोल दूँगा "अपना"। यानी कि तुम सबसे पहले अपना किसको बोल रहे हो? अपने शरीर को।

आप कह रही हैं कि अपनों के विरुद्ध चला गया अर्जुन, कृष्ण की बात सुनकर। अपनों के विरुद्ध नहीं गया, वो अपने के साथ रहा। अर्जुन अगर "देह" नहीं है, अर्जुन अगर "बोध" और "शांति" के लिए छटपटाती चेतना है, तो अर्जुन का अपना तो बस एक है—कृष्ण। तो

अर्जुन अपनों के ख़िलाफ़ गया या अपनों के साथ गया? युद्ध करके, मैं पूछ रहा हूँ, अर्जुन अपनों के ख़िलाफ़ गया या जो एकमात्र उसका अपना था उसके साथ गया?

देह बनकर देखेंगी तो यही लगेगा कि अर्जुन अपनों के ख़िलाफ़ गया और चेतना बनकर देखेंगी तो समझ में आएगा कि अर्जुन का अपना तो कोई था ही नहीं, अर्जुन का अपना तो कृष्ण भर थे। जो अपना था, उसी के साथ अर्जुन चला गया, ठीक ही किया, स्वाभाविक बात है।

इतनी जल्दी आग्रह मत पकड़ लिया करिए इन गंभीर मसलों पर। बहुत विचार करके, बड़े ध्यान के साथ कहा करिए कौन अपना कौन पराया। जिसको आपने अपना कह दिया, अब आप उसी के हो जाएँगे। और जिस नाते आपने किसी को अपना कह दिया, वो नाता ही आपके जीवन का केंद्र बन जाएगा।

जिसको आपने देह के नाते अपना कह दिया, उसकी उपस्थिति आपको देहाभिमानी ही बना के रखेगी। समझिए बात को। जो आपके साथ मौजूद है क्योंकि उससे आपका शरीर का रिश्ता है, उसकी संगति में, उसके संपर्क में, आप लगातार देह ही बने रहेंगे। देह बने रहेंगे क्योंकि देह नहीं बने तो रिश्ता टूट जाएगा भाई। आप किसी के साथ चल रहे हैं जिससे आपका रिश्ता देह का है तो वो रिश्ता आपके लिए अनिवार्य करके रखेगा कि आप देह-भाव में ही जिएँ। क्योंकि जहाँ आपका देह-भाव घटा, तहाँ वो रिश्ता टूटा। इतनी आसानी से रिश्तों पर ठप्पे मत लगाया करिए, इतनी आसानी से तय मत कर लिया करिए कि कौनसा रिश्ता अपना है, कौनसा पराया है।

गीता पर बहुत बात करी है मैंने, और हैरान रहा हूँ कि बार-बार, बार-बार, यही मुद्दा उठता है कि राजपाट के लिए अपनों के ख़िलाफ़ जाना कैसे ठीक है? और, किसी को ध्यान ही नहीं आता कि ये "अपने" शब्द का अर्थ क्या है—अपना कौन? अपना कैसे?

अध्यात्म के मूल में ही है स्वयं को जानना—"मैं कौन?" अभी यह तो पता नहीं कि "मैं कौन?" तो यह कैसे पता कि "मेरा कौन?"? आप कौन हैं आपको पता नहीं, अपना कौन है ये पहले पता है? शाबाश! ये तो बड़ा तीर चलाया।

ऋषिकेश में था मैं, तो एक युरोपियन देवी जी मिलीं। मैंने पूछा "यहाँ कैसे?", बोलीं, "यहाँ मैं 'हू एम आई' साधना करने आई हूँ, "कोहम" पता करना है, "मैं हूँ कौन?" मैंने कहा, "और ये आपके साथ कौन?", बोलीं, "ये मेरे बॉयफ्रेंड हैं"। देवी जी समझ भी नहीं पा रही थीं कि उन्होंने कितनी विरोधाभासी बात कर दी है, कितनी सेल्फ-कॉन्ट्रेडिक्टरी बात कर दी है। अगर तुम्हें अभी नहीं पता है कि तुम कौन हो तो तुम्हें ये कैसे पता है कि जो तुम्हारे साथ है, वो तुम्हारा अपना है? "मुझे ये तो नहीं पता कि 'मैं कौन हूँ', वो तो आप बताएँगे, पर मुझे ये पता है कि 'ये मेरे पति हैं, ये मेरा बच्चा है'।" अगर तुम्हें ये पता है कि ये तुम्हारे पति

हैं और ये तुम्हारा बच्चा है तो फिर तुम्हें ये भी पता होगा कि "तुम" कौन हो। "नहीं, वो तो हमें नहीं पता, वो आप बता दीजिए"। अगर "अपना" नहीं पता तो "अपनों" का कैसे पता भाई? पर अपनों का हमें खूब पता होता है, फ़िल्में खूब देखी हैं न।

अब हिंसा का आरोप तो लग ही गया है, तो दिल दुखाने वाली एक-दो बातें बोल ही देता हूँ। कोई नहीं है अपना। तुम लाख गा लो कि प्रियतमा अपनी हैं, या प्रियवर अपने हैं, या लाडला अपना है, या दोस्त-यार अपने हैं, कोई नहीं है अपना। जब तक ये अपना-पराया खेल रहे हो तब तक "अपने" तक नहीं पहुँच सकते, "आत्मस्थ" नहीं हो सकते। आत्मा तो असंग होती है, उसका कोई संगी-साथी होता ही नहीं है, उसका कोई कुटुम्ब, कोई रिश्तेदार नहीं होता। और चलो, आत्मा तो दूर की कौड़ी है, अभी भी जो तुम हो, एक छटपटाती रूह, एक अतृप्त चेतना, उसका अपना तो वही होगा न जो उसकी छटपटाहट शांत करे और तृप्ति दे। जिनको अपना बोल रहे हो, वो तुम्हारी छटपटाहट शांत कर पाते हैं? तुम्हें तृप्ति दे पाते हैं वास्तव में? नहीं? तो फिर वो अपने कैसे हो गए? सिर्फ़ इसलिए कि डीएनए एक जैसा है? ये हमारे "अपनेपन" की परिभाषा है—"हमारा तुम्हारा डीएनए सेम-टू-सेम"।
 और वो भी कई बार सेम-टू-सेम होता नहीं, ऐसा घोर "अपनापन" है हमारा। जैसे छोटे बच्चे करते हैं, "अरे वाह, तेरी पेंसिल भी कैमल की है, मेरी भी कैमल की है, हम दोनों भाई-भाई", वैसे ही डीएनए लेकर घूम रहे हो। जिससे ही अपना डीएनए मिल गया, "तू मेरा भाई!"

दो ही तरह के अपने होते हैं हमारे: एक, जिनसे डीएनए मिल रहा होता है, दूसरा, जिनसे मिलाना होता है। "चेतना" वगैरह की बात ही बहुत दूर की है। मैं कहता हूँ कि हम अतृप्त चेतना हैं, तुम बोलते हो, "न, हम अतृप्त डीएनए हैं"। कोई रिश्ता बताओ न जिसमें डीएनए न शामिल हो? प्रेम भी करते हो किसी से तो मानते ही नहीं जब तक डीएनए-डीएनए मिल न जाएँ, और डीएनए- डीएनए नहीं मिल पाए तो बोलते हो, "अरे, मेरा इश्क तो नाकामयाब रहा, कामिल नहीं हो पाया"। देश का कानून भी विवाह को मान्यता तभी देता है जब शारीरिक संसर्ग हो जाए, उसको बोलते हैं, "कॉन्स्युमेशन ऑफ मैरिज"। देह से देह नहीं मिली तो कानून भी कहता है कि फिर ये विवाह ठीक नहीं है। डीएनए का खेल चल रहा है।

तुम किसको अपना बोलते हो, ये तय कर देगा कि तुम कौन हो, तो खबरदार रहना।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, आपने कहा कि हमारा तादात्मय शरीर और मन से है, और ऐसा है भी, परंतु इससे अलग कुछ और अनुभव में है ही नहीं।

आचार्य प्रशांत : अभी जैसे जी रहे हो, वो सब तो अनुभव में है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ, वो अनुभव में है।

आचार्य प्रशांत : तो उससे चिढ़ नहीं उठ रही?

प्रश्नकर्ता : चिढ़ उठ रही है लेकिन कुछ सीमित समय के लिए।

आचार्य प्रशांत : तो ठीक है, बढ़िया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वो सीमित है।

आचार्य प्रशांत : तो सीमित होने से चिढ़ नहीं उठ रही?

प्रश्नकर्ता : होती है।

आचार्य प्रशांत : तो वही चिढ़ जब ज़ोर से उठेगी तो कृष्ण की तरफ भागोगे। जब तक वो चिढ़, वो वेदना, वो खलिश, ऐसे ही है हल्की-हल्की, मद्धम-मद्धम, तब तक यूँ ही थोड़ा बहुत सत्संग वगैरह कर लिया, खुजली मिट गई।

जब अपनी हस्ती से चिढ़ होने लग जाती है तब आदमी कहता है कि कोई कृष्ण चाहिए। कृष्ण का अनुभव नहीं चाहिए। आप कह रहे हैं कि, "आचार्य जी, आप जो बातें बता रहे हैं वो मेरे अनुभव की ही नहीं हैं", मैं कह रहा हूँ कृष्ण का अनुभव चाहिए ही नहीं, तुमको जो रोज़मर्रा के अनुभव हो रहे हैं वही काफ़ी नहीं हैं क्या? अगर ज़रा सी तुम में अपने प्रति संवेदना हो तो तुम्हें दिखाई देगा कि तुम्हारे रोज़मर्रा के अनुभवों में तुम्हारे लिए कितनी यातना है। रो नहीं पड़ते हो कि ये किन अनुभवों में जी रहा हूँ? और अगर अभी नहीं रो पड़ते हो तो मैं कह रहा हूँ कोई बात नहीं, दुनिया के मज़े लो, मेला-ठेला घूमो।

अध्यात्म कोई ज़बरदस्ती थोड़े ही है। जिनको समस्या ही नहीं उठ रही, उनको बाँध-बाँध के ले आओ अस्पताल तो अस्पताल में दंगा कराओगे बस। अध्यात्म उनके लिए है जिनमें अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति एक वितृष्णा उठी है। उस वितृष्णा के बिना काम नहीं है। कोई शौक़ नहीं है अध्यात्म कि कई काम कर लिए, अब अध्यात्म भी करके देखेंगे।

"आजकल हमने दो नए काम शुरू किए हैं"

"क्या?"

"एक वॉयलिन सीख रहे हैं, दूसरा अध्यात्म"

अध्यात्म कोई हॉबी है? जिनके पास कोई रास्ता नहीं बचता, सिर्फ़ उनके लिए है अध्यात्म। अध्यात्म ऐसा थोड़ी है कि व्यक्तित्व बनाने, चमकाने की कोई चीज़ है। आजकल तो अध्यात्म को जोड़ देते हैं योग इत्यादि से भी कि सुबह-सुबह पहुँच गए जाकर के आसन लगाने, और कह रहे हैं कि अब आध्यात्मिक हो गए। इन बातों से अध्यात्म का क्या लेना-देना?

अध्यात्म उनके लिए है जो अपने आपको अर्जुन जैसी स्थिति में पाएँ। पढ़ा न अर्जुन कैसे अपनी स्थिति का विवरण दे रहा है? मुँह सूख रहा है, हाथ-पाँव काँप रहे हैं, खड़े होने की भी ताकत बची नहीं है। जो निरंतर ऐसी स्थिति में जी रहे हों, अब वो सुनेंगे कृष्ण की, नहीं तो कौन सुनता है कृष्ण की? अर्जुन पर ये आपदा न पड़ी होती, ये धर्मसंकट न पड़ा होता, तो वो कभी गीता को स्वीकार न करता।

जब हालत बिलकुल ख़राब हो जाए, जब भागने का कोई तरीका न बचे, सिर्फ़ तब सुनोगे तुम कृष्ण की। उसके पहले तो तुम्हारे जीवन में जो कृष्ण हैं, वो तुम्हारा शौक़ मात्र हैं, तुम्हारे घरेलू मंदिर की कोई मूर्ति मात्र हैं, जन्माष्टमी की खीर-मिठाई मात्र हैं, वो अर्जुन के प्राण नहीं हो सकते फ़िर। कृष्ण तुम्हारे प्राण तभी बनेंगे जब तुम अपनेआप को पाओगे घोर विपदा में, और घोर विपदा में हम सभी हैं। बस कोई-कोई होता है जिसको ये अहसास हो जाता है, जिसमें ये ईमानदारी होती है कि उसकी ज़िन्दगी बड़े संकट में है। बाकी तो यही कहते रहते हैं, "ऑल इज़ वेल *(बढ़िया चल रहा है)* "।

कोई संत चाहिए फिर जो कहे, "आन पड़ा चोरन के नगर, दरसन बिना जिय तरसे रे"। हम कहाँ कहते हैं कि आन पड़े चोरन के नगर? हम तो कहते हैं, "बढ़िया है सब। घर तरक्की कर रहा है, नई गाड़ी आने वाली है, लड़के को ऑस्ट्रेलिया भेज रहे हैं"। हमारे लिए तो सब अच्छा-ही-अच्छा है। जिनको दिखाई देने लग जाए कि अच्छा-अच्छा नहीं है, कृष्ण उनके लिए हैं।

तुम्हारा सब अच्छा-अच्छा चल रहा है तो चलाओ, अभी क्यों ज़बरदस्ती मुसीबत आमंत्रित कर रहे हो? खेल-खिलौना नहीं है अध्यात्म, जब अपनी ज़िन्दगी से बिलकुल ऊब जाओ, तो आत्मदाह की आग है अध्यात्म—कि अब ख़त्म होना है, जैसा जीवन चल रहा है, ये जीवन ख़त्म होना चाहिए। तब अध्यात्म है। शगल नहीं है, "दीज़ डेज़ आई एम ट्राइंग स्पिरिचुअलिटी! मेडिटेशन! *(इन दिनों मैं अध्यात्म करने की कोशिश कर रहा हूँ—ध्यान कर रहा हूँ)* ।"

कृष्ण अर्जुन को मेडिटेशन करने को थोड़े ही बोल रहे हैं, वो बोल रहे हैं, "खड़ा हो जा, तीर चला"। *(हँसते हुए)* वो वहाँ पर बैठ जाए महामुद्रा मारकर, तो सबसे पहले कृष्ण ही उसको मार दें। नहीं, अहिंसावादीयों को बड़ा अच्छा लगेगा। और मेडिटेशन-वादियों को भी बड़ा अच्छा लगेगा।

प्रश्नकर्ता : अर्जुन जो गीता के छत्तीसवें श्लोक में कह रहा है, "इन आतताइयों को मारकर हमें पाप भी लगेगा"। एक तरफ तो आततायी कह रहे हैं और दूसरी तरफ कह रहे हैं पाप भी लगेगा?

आचार्य प्रशांत : आप उस शब्द पर ध्यान नहीं दे रहे हैं जिसपर देना चाहिए—“हमें”। अर्जुन ने कृष्ण को भी लपेट लिया। वो ये नहीं कह रहा है कि आतताइयों को मारकर “मुझे” पाप लगेगा। उसकी चाल की बारीकी देखिए। वो कृष्ण को कह रहा है, “देखिए, ये सामने जो हैं, ये भले दुष्ट हैं, आततायी हैं, पर इन्हें मारा तो “हमें” पाप लगेगा। मैं ही भर नर्क नहीं जा रहा, आप भी जा रहे हैं।” इतना ही नहीं है, आने वाले अध्याय में आप पढ़ेंगे, अर्जुन कृष्ण को स्पष्ट कह रहा है, “कृष्ण, आप मुझे भ्रमित कर रहे हैं”। सीधे-सीधे इल्ज़ाम भी लगा दिया कि, “कृष्ण आप मुझे भ्रमित कर रहे हैं”। जो आदमी कमज़ोर पड़ गया हो, वो कुछ भी कर सकता है। जो बात सोची नहीं जा सकती वो कह सकता है। और कमज़ोरी तो एक ही होती है—आत्मबल का अभाव। जो अपनेआप को देह मानकर जी रहा है उसको आत्मबल कहाँ से मिलेगा? तो फिर वो तमाम तरह की बेकार की बातें, उल्टे-पुल्टे तर्क, बेहूदे आक्षेप, सब लगाएगा।

एक विसंगति तो आपने देख ही ली कि एक ही साँस में कह रहा है कि वो सब आततायी हैं और ये भी कह रहा है कि इनको मारकर पाप लगेगा, पर उससे बड़ी विसंगति से आप चूके, मैंने कहा ये नहीं देखा कि कह रहा है—“हमें” पाप लगेगा। दबे-छुपे उसने, करीब-करीब कृष्ण को पापी ही घोषित कर दिया क्योंकि खुद तो वो यही कह रहा है कि, “मैं भाग रहा हूँ”। मारने का तो ठीकरा फोड़ा जा रहा है कृष्ण के सर। तो पाप भी फिर किसको लगना है अर्जुन के अनुसार? कृष्ण को लगना है।

ये तो छोड़िए कि जो दुनिया-भर की दुष्टात्माएँ होती हैं और अधर्मी होते हैं वो ही कृष्ण को कहेंगे कि पापी हैं कृष्ण। यहाँ तो हमें दिखाई दे रहा है कि अर्जुन के भी तेवर कुछ वैसे ही बन रहे हैं।

७. किसी के साथ रहने पर अकेलापन दूर क्यों होता है?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, कृपया मोह को थोड़ा और समझाइए। मोह एक वादा लेकर आता है कि "तुम्हारे अकेलेपन को दूर कर दूँगा।" कुछ पल का साथ भी कम-से-कम उस पल के लिए अकेलापन मिटा देता है। ये और बात है कि जब वो व्यक्ति या वस्तु नहीं रहती तो अकेलापन पुनः हावी हो जाता है। यह क्या है?

आचार्य प्रशांत: उस समय भी जो तुम्हारा अकेलापन हटता है, वो तुम्हारी बेहोशी की दशा में ही हटता है। भीतर ये बड़ा ख़तरनाक खेल चलता है। अकेलापन तुम हटाना चाहते हो जब तक दूसरा व्यक्ति तुम्हारे साथ नहीं है। जब तक दूसरा व्यक्ति तुम्हारे साथ नहीं है तब तक अकेलापन खाए जाता है।

जब दूसरा व्यक्ति साथ आता है तब अकेलेपन के हटने की सम्भावना पैदा होती है। लेकिन वो सम्भावना साकार तभी हो सकती है जब दूसरे व्यक्ति के साथ तुम बेहोश हो जाओ। दूसरे व्यक्ति के साथ रहते हुए भी यदि तुमने अपनी 'चेतना' थोड़ी भी जागृत रखी, तो तुम पाओगे कि दूसरे के साथ होते हुए भी तुम बड़े अकेले हो। यही वजह है कि हम अपने अकेलेपन में तो फिर भी थोड़ा होश बरकरार रख लेते हैं, जब दूसरे की संगत में आते हैं तब हमारे लिए बेहोश होना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि उस बेहोशी में ही तुम्हें अकेलेपन के मिटने की अनुभूति होगी।

तुम दूसरे की संगत कर ही इसीलिए रहे हो न कि अकेलापन मिटे? पर दूसरे की संगत अकेलापन नहीं मिटाती तुम्हारा। दूसरे की संगत में तुम पर जो बेहोशी छाती है वो तुम्हारा अकेलापन मिटाती है। उस बेहोशी को अपने ऊपर छाने देना या न छाने देना चुनाव होता है। दूसरे की संगती में तुम्हारे लिए और ज़रूरी हो जाता है कि तुम बेहोश हो जाओ, नहीं तो

रिश्ता ही बना नहीं रहेगा। दूसरा तुम्हारे साथ है और उस वक्त तुम अपनी चेतना बरक़रार रख लो, रिश्ता टूट जाएगा। जब तुम दूसरे के साथ हो, ख़ास तौर पर उसके साथ जो तुम्हारा अकेलापन मिटाने का साथी है, और तुम अपनी चेतना सुदृढ़ रख लो, तुम उससे बातचीत ही नहीं कर पाओगे। तो ये मत कहो कि दूसरे के साथ रहने से अकेलापन मिटता है। ये कहो कि दूसरा जब निकट आता है तो एक परस्पर बेहोशी का मादक माहौल छा जाता है। उस मादक माहौल में हम सो जाते हैं, नशे में आ जाते हैं, लगता है जैसे अकेलापन मिट गया। एक सपना छा जाता है और लगता है अकेलापन मिट गया।

अकेलापन मिटा नहीं है बल्कि और गहरे गिर गए हो, और गड्ढे में गिर गए हो।

प्रश्नकर्ता: वो तो नज़र आता है बाद में—आपसी टकराव, समझ की कमी—वो तो गड्ढा बाद में दिखता ही है, फिर और ज़्यादा अकेला महसूस करते हैं।

आचार्य प्रशांत: कोई मिल जाए तुम्हें ऐसा जिससे तुम होश का सम्बन्ध बना सको, कि चेतना उठी हुई है, और तब अकेलापन दूर हो, तब बात दूसरी है; वो बात अलग है। पर ऐसा कोई दूसरा मिला अगर तुम्हें तो उसके होने का परिणाम होगा तुम्हारे होश का खुलना। होश जितना खुलेगा उतना तुम्हें दूसरे की ज़रूरत कम होती जाएगी।
तुम्हारी ज़िंदगी में 'दूसरा' महत्वपूर्ण बना रहे, इसके लिए ज़रूरी है कि 'दूसरे' के होने से तुम्हारे जीवन में बेहोशी बनी रहे। तो दूसरे का स्वार्थ ही इसमें है कि वो तुम्हें बेहोश रखे, और तुम्हारा भी स्वार्थ इसमें है कि तुम 'दूसरे' को बेहोश रखो। जितना दोनों बेहोश रहोगे, उतना दोनों को एक दूसरे की ज़रुरत रहेगी। इसीलिए ये जो जोड़ों के रिश्ते होते हैं, ये बड़े ख़तरनाक होते हैं। तुम्हारा जोड़ीदार कभी चाहेगा ही नहीं कि तुम होश में आ, क्योंकि होश में आने का मतलब है कि जोड़ा टूटा, और न तुम कभी चाहोगे कि तुम्हारा जोड़ीदार होश में आए। बल्कि थोड़ा-बहुत भी जहाँ दिखाई देगा कि होश की किरण उतर रही है, वहीं खतरा छा जाएगा। घंटियाँ टनटना उठेंगी—"कुछ ख़तरनाक हो रहा है। अरे! ये तो जग रहा है। सुलाओ रे!" ये व्यवस्था प्रकृति ने दी है।

होश के उठने और होश के गिरने का अर्थ समझो: जितना तुम प्रकृतिस्थ होते जाओ, जितना तुम देहभाव में, वृत्तिभाव में लिप्त होते जाओ, तुम्हारा होश उतना गिर रहा है, होश का उतना ही पतन हो रहा है, अधोगमन हो रहा है। और जितना तुम प्रकृति से छिटकते जाओ, दूर होते जाओ, उतना तुम्हारा होश चढ़ रहा है, ऊर्ध्वगमन हो रहा है।
जिसके होने से तुम और ज़्यादा शरीर ही अनुभव करो अपनेआप को, वो तुम्हारी जिंदगी में बेहोशी लेकर आया है। जो तुमसे संपृक्त ही इसीलिए है क्योंकि तुम किसी विशेष लिंग के

हो, या रक्त इत्यादि से सम्बंधित हो, उस बेचारे की मजबूरी है कि वो तुम्हारी ज़िंदगी में बेहोशी ही लेकर आएगा। दोष नहीं दे सकते। ये व्यवस्था ही कुछ ऐसी बनी हुई है। इसमें किसी को दोषी ठहराने की कोई बात ही नहीं है। खेल ही गड़बड़ है, किसी खिलाड़ी पर क्या दोष रखें? खेल प्रकृति का है, हम क्यों बोले कि उसमें कोई खिलाड़ी है जो बड़ा अपराधी है?

तुम अपनी पत्नी के सामने अपनी प्रकृति को छोड़ सकते हो क्या? बड़ा मुश्किल है। उससे कहोगे क्या कि “मैं तो विशुद्ध चैतन्य मात्र हूँ”? क्योंकि विशुद्ध चैतन्य मात्र हो तो कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी? रिश्ता ही खतरे में पड़ जाएगा। तुम पति बने रहो इसके लिए आवश्यक है कि तुम में देहभाव बना रहे—“मैं कौन हूँ? मैं पुरुष हूँ।” और रिश्ता ऐसा है जिसमें देह के आदान-प्रदान की पूरी गुंजाइश है तो मामला और गड़बड़ हो जाता है। और इसमें न स्त्री को दोषी बता रहा हूँ, न पुरुष, न पति, न पत्नी को। बस मैं तुमको बता रहा हूँ कि ये व्यवस्था ही इसी तरह से रची हुई है कि तुम इसमें फँसे ही रहोगे। माँ की गोद में बच्चा है, वो कैसे कह देगी कि “मैं तो चेतना मात्र हूँ, जिसको पूर्णता और मुक्ति की तलाश है”? वो बच्चा चिल्ला रहा है, उसका हाथ पकड़ रहा है, उसकी छाती पर हथेली मार रहा है और कह रहा है “दूध पिलाओ”—पूरा रिश्ता ही देह का है। बच्चे की उपस्थिति में “माँ” चेतना कहाँ से बन पाएगी भाई? बच्चा तो आ-आ कर माँ को बोलता है: “तू देह है। तू देह है। तू देह है। तू देह है। और तू मेरी देह का ख्याल कर”। और मैं फिर कह रहा हूँ, इसमें बच्चे के होने या न होने को मैं अच्छा-बुरा नहीं ठहरा रहा। मैं बस आपको बता रहा हूँ कि ये व्यवस्था किस तरह से निर्मित है। मैं नहीं कह रहा हूँ कि बच्चा बड़ी बुरी चीज़ होता है। नहीं। मैं बस बता रहा हूँ कि बच्चा क्या चीज़ होता है।

आपका अकेलापन दूर नहीं होता है, आप बस बेहोश हो जाते हो। बेहोशी में कौनसा अकेलापन? अकेलापन अनुभव हो उसके लिए भी थोड़ा होश, थोड़ी चेतना चाहिए न? किसी की उपस्थिति आपको एकदम ही बेहोश कर दे तो अकेलापन मिट गया! और अकेलापन मिट सकता है अगर किसी की उपस्थिति आपको उठा दे, आत्मा की तरफ बढ़ा दे, तब भी अकेलापन मिट सकता है। वैसा साथी हमें मिलता नहीं। आमतौर पर जिनकी मौजूदगी में हमारा अकेलापन दूर होता है, वो वही होते हैं जो हमारी चेतना को गिरा देते हैं। कृष्ण के साथ हैं अर्जुन, अर्जुन का भी अकेलापन दूर हो रहा है पर अब उसकी चेतना गिर नहीं रही है, उठ रही है। वैसी पत्नी मिल जाए तो बात क्या है—वैसा पति मिल जाए, दोस्त मिल जाए, बात क्या है।

और हम प्रकृति विरोधी नहीं हैं। समझिएगा। प्रकृति जब तक बाहर-बाहर है, बड़ी प्यारी है। प्रकृति जब भीतर बैठ गई, बड़ी ख़तरनाक है। ये जो बाहर की प्रकृति है, इससे प्रेम करो, इसकी सुरक्षा करो—पौधे, जीव-जन्तु, जंगल, नदी, पहाड़, झरने, रेगिस्तान। जब तक वो दृष्टि का विषय हैं तब तक बड़े सुन्दर हैं, बड़े प्यारे हैं, लेकिन जैसे ही तुमने प्रकृति से तादात्म्य किया, तुम कहीं के नहीं बचोगे। तुम कहीं के नहीं बचोगे और फिर जो बाहर की प्रकृति है तुम उसे भी आग लगा दोगे, जंगल काट दोगे, नदियाँ ख़राब कर दोगे, पौधों को खा जाओगे, जानवरों की हत्या करोगे। इसी बात को सांख्ययोग कहता है—"प्रकृति और पुरुष का सम्यक रिश्ता है कि प्रकृति अपना खेल करे, नाचे और पुरुष चुपचाप ज़रा दूरी से बस देखे, निहारे, मौन रहे, मुस्कुराए"। प्रकृति को देखो, उसके साथ लिप्त मत हो जाओ। देखने भर में बड़ा आनंद है, लिप्त हो गए तो कहीं के नहीं बचोगे।

सुन्दर फूल खिला है, उसकी ख़ुशबू है। ख़ुशबू सूंघ लो, फूल को निहार लो, लिप्त मत हो जाना—तोड़कर बालों में मत लगा लेना। अब तुमने प्रकृति का भी नुकसान कर दिया और अपना भी। दूर-दूर से फूल बड़ा सुहाना है। सब फूलों को दूर से ही निहारा करो। और ये फूलों के बहिष्कार की बात नहीं हो रही है, हम फूल विरोधी नहीं हैं। शुरू में ही कहा कि ये प्रकृति के विरोध की बात नहीं हो रही है, ये प्रकृति से उचित रिश्ता रखने की बात हो रही है। खरगोश खेल रहे हैं—देखोगे उनको या उनके ऊपर कूदोगे? क्या करोगे?

८. क्या शादी करने से अकेलापन दूर हो जाएगा

प्रश्नकर्ता: नमन आचार्य श्री, मैं शादी करने जा रहा हूँ। मगर मैं समझ रहा हूँ कि ये अच्छा नहीं हो रहा। मगर दूसरी तरफ़ मुझसे ये अकेलेपन से भरी हुई ज़िन्दगी बर्दाश्त नहीं होती। कृपया मार्ग दिखाएँ।

आचार्य प्रशांत: अब तो मंज़िल ही मिल गई, मार्ग क्या दिखाऊँ?

(श्रोतागण हँसते हैं)

मार्ग तो उनके लिए होता है बेटा जो अब कहीं को जा सकते हों। जिनके लिए आगे बढ़ना, निकलना, यात्रा करना संभव हो, मार्ग उनके लिए होते हैं। जो अपने ऊपर सब दरवाज़े बन्द करने जा रहे हों, उनको मार्ग क्या बताऊँ? मैं मार्ग बता भी दूँगा तो उसपर चलोगे कैसे?

(पास में बैठे श्रोता से) तुम क्यों परेशान हो रहे हो? जवाब इधर दे रहा हूँ, दहशत इधर छा रही है।

(श्रोतागण हँसते हैं)

मैं नहीं कह रहा विवाह गलत है। मैं तुम्हारे ही वक्तव्य का हवाला दे रहा हूँ। तुम कह रहे हो, “मैं शादी करने जा रहा हूँ मगर मैं जान रहा हूँ कि ये मेरे लिए अच्छा नहीं है”।
अगर जान रहे हो तो क्यों कर रहे हो बेटा? ये जो तुमने अपनी प्रेरणा बताई कि अकेलापन बर्दाश्त नहीं होता। अरे, कुछ और कर लो। अकेलापन मिटाने के बहुत तरीके हैं—मेला-ठेला घूम आओ, दोस्त-यार बना लो, भारत भ्रमण कर लो, कुछ कर लो। एक जगह टिकट

कट रहे हैं चाँद पर जाने के, मंगल ग्रह पर जाने के, वहाँ घूम आओ। अकेलेपन का क्या है, वो तो कार्टून चैनल देखकर भी मिट जाता है।

(सभी श्रोतागण हँसते हैं)

उसके लिए तुम ये क्यों कर रहे हो? अब सब श्रोतागण दो हिस्सों में विभाजित हो गए हैं। एक वो जो बहुत ज़ोर-ज़ोर से हँस रहे हैं और एक जो अतिगम्भीर और मायूस हो गए हैं। जो हँस रहे हैं, वह वो हैं जिनका अभी नम्बर नहीं लगा। जो अतिगम्भीर और मायूस हो गए हैं वह वो हैं जो कह रहे हैं, “उफ! ये पहले क्यों नहीं सुना!” नहीं, बात मज़ाक की नहीं है, मज़ाक से आगे की भी है।

अकेलापन मिटाने के लिए ये करोगे क्या? और जानते नहीं हो क्या कि मूल अकेलापन क्या है? वो है अहमवृत्ति की अपूर्णता। वो किसी से शादी कर लेने से थोड़े ही मिट जाएगी भाई! तुम कर लो विवाह, पर ये उम्मीद मत रखना कि उससे अकेलापन कम हो जाएगा। कर लो! शरीर की वासनाएँ इत्यादि हों, उनकी पूर्ति के लिए तुमको यही ज़रिया दिखता हो कि विवाह करना है तभी जीवन में एक स्त्री देह आएगी तो विवाह कर लो। लेकिन ये मत सोचना कि उस स्त्री देह के आ जाने से तुम्हारा अकेलापन मिट जाएगा, वो नहीं होगा। हाँ, संभोग इत्यादि के अवसर खूब उपलब्ध हो जाएँगे, वो सब हो जाएगा। बच्चे वगैरह हो जाएँगे, घर-खानदान खड़ा हो जाएगा। माता-पिता इत्यादि अगर तुमसे उम्मीदें कर रहे होंगे तो वो उम्मीदें पूरी हो जाएँगी, वो सब चीज़ें हो जाएँगी और जैसा आमतौर पर भारत में होता है, विवाह के बाद पति का वज़न बढ़ जाता है, वो सब हो जाएगा। बढ़िया घर का पका खाना मिलने लगेगा। घर सुव्यवस्थित रहेगा, कपड़े-लत्ते ठीक रहेंगे, चेहरे पर चमक आ जाएगी। ये सब होता है विवाह के बाद, वो सब हो जाएगा। दहेज इत्यादि मिल जाएगा, बाइक पर चलते होगे तो गाड़ी आ जाएगी। समाज में थोड़ा सम्मान बढ़ जाएगा। किराए पर घर मिलने लगेगा। वो सब हो जाएगा। लेकिन इस सब से अकेलापन नहीं दूर होने वाला। लोग न जाने क्या-क्या करते हैं, तुम विवाह कर लो, ठीक है। लोग जो कुछ करते हैं, उससे भी अकेलापन नहीं दूर होता, न विवाह से दूर होगा। वो अकेलापन तो जहाँ से दूर होना है, जानते ही हो अगर ग्रन्थों से जुड़े हो, अगर मुझको सुनते हो।

किसी स्त्री में इतनी कहाँ से ताकत आ गई कि तुमको परमात्मा से मिलवा देगी भाई? कौन सी लड़की, कौन सी औरत है जो वास्तव में किसी के मन का सूनापन भर सकती है? और कौन सा लड़का, कौन सा पुरुष है जो किसी स्त्री के मन का सूनापन भर सकता है? असम्भव। जो लोग इस उम्मीद के साथ विवाह करते हैं कि सूनापन, अकेलापन, तन्हाई

मिट जाएगी, उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। और सभी इसी से उम्मीद करते हैं। कम-से-कम ऊपर-ऊपर यही उम्मीद रहती है। अंदर-अंदर भले ही देह की तृष्णा रहती हो, ऊपर-ऊपर तो यही बताते हैं कि, "वो ज़रा तन्हाइयाँ मिटाने के लिए एक हमसफर चाहिए"। तन्हाई इत्यादि नहीं मिटती, हाँ, किलकारियाँ गूँजने लग जाती हैं, वो हो जाता है। पहले कहते थे, "रातों को तन्हाई के मारे नींद नहीं आती"। अब कहोगे, "रात भर ये चाएँ-चाएँ चिल्लाता है, मेरी तन्हाई का उत्पाद, तो नींद नहीं आती"। नींद तो बेटा पहले भी नहीं आती थी, अभी भी नहीं आएगी। पहले इसलिए नहीं आती थी कि स्त्री उपलब्ध नहीं थी। फिर रात भर इसलिए नहीं सोओगे कि नई-नई मिल गई है स्त्री देह। तो कहोगे, "न खुद सोएँगे, न तुझे सोने देंगे रात भर", और फिर जब उत्पाद सामने आएगा तो फिर वो नहीं सोने देगा तुम दोनों को। तो नींद और विश्राम तो उपलब्ध होने ही नहीं हैं, तुम इस तरीके के चाहे जितने तरीके आज़मा लो।
और अगर विवेकी हो तो संतो की शरण में जाओ, सुनो कि ऋषि-मनीषी तुमसे क्या बता गए हैं। अगर वाकई अपना हित चाहते हो तो। विवाह का मैं विरोधी नहीं हूँ, फिर कह रहा हूँ, तुमको एक पारिवारिक सुव्यवस्था चलाने के लिए अगर एक स्त्री की ज़रूरत है तो ले आओ, पर इस उम्मीद के साथ मत लाना कि वो तुम्हारे अंधेरे जीवन को रौशन कर देगी। ये न कोई स्त्री कर सकती है, न कोई पुरुष कर सकता है। और जितना ज़्यादा तुम ऐसी उम्मीद रखोगे फिर उतना ज़्यादा तुम खाएँ-खाएँ करोगे। कहोगे, "इससे जो मेरी असली उम्मीद थी, वो तो पूरी ही नहीं हो रही", तो फिर उसका मुँह नोचोगे। इसीलिए जो हमारा सामान्य प्रेम होता है और जो औसत विवाह होता है, वो असफल ही रहता है। असफल इसलिए रहता है क्योंकि जो लक्ष्य था वो तो मिला नहीं। जब लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई तो असफलता ही है। लक्ष्य क्या था? अकेलापन दूर हो, वो दूर होगा नहीं। तो सब प्रेम, सब विवाह असफल ही होते हैं। लेकिन फिर भी उनकी कुछ उपयोगिता हैं। मैंने उपयोगिता बता दी।

स्त्रियाँ अक्सर ये उपयोगिता देखती हैं कि कोई मिल जाएगा जो सहारा देगा। बड़ी व्यर्थ की उपयोगिता है, किसी स्त्री को किसी सहारे की कोई आवयश्कता होनी नहीं चाहिए। पर हिंदुस्तान है, यहाँ अभी भी बहुत तरह की रुग्ण मानसिकताएँ चल रही हैं। तो बहुत सी लड़कियाँ और औरतें हैं जो कहती हैं "शादी कर लेंगे तो किसी पुरुष की सशक्त बाँह मिल जाएगी थामने को"। ठीक है! तुम्हें इसलिए शादी करनी है तो कर लो। तुम्हें पति नहीं, शेरा चाहिए, कि अभी तक बाहर निकलती थी तो इधर-उधर लोग परेशान करते थे, अब बोलोगी, "शेरा छू!"

(श्रोतागण हँसते हैं)

और जितने भी शारीरिक रूप से श्रमसाध्य काम होते थे, अभी तक खुद करने पड़ते थे। अब पति सामने खड़ा हो जाएगा, "मैं करा दूँगा न! बताओ कौन सी लाइन में लगना है, किस दफ्तर में? मैं लगूँगा न।" तो तुम्हें अगर ये सब चाहिए तो तुम कर लो शादी, मिल जाएगा, बिल्कुल मिल जाएगा। और भी बड़ी हीन बातें हैं, बहुत होती हैं। अभी भी, बहुत सारी लड़कियों को, क्षोभ के साथ कह रहा हूँ, शादी का आकर्षण इसलिए रहता है कि उसके बाद किसी की आमदनी मेरी हो जाएगी। पति घर लाएगा, मेरे हाथ में तन्ख्वाह रख देगा। क्षमा माँगते हुए कह रहा हूँ, ये वैश्यावृत्ति है। ये वैश्यावृत्ति है! हाँ, लेकिन अगर आप इस वजह से विवाह कर रही हैं तो आपको सफलता मिल जाएगी, अकेलापन दूर करने में नहीं, पैसा पाने में मिल जाएगी। बड़ी साधारण योग्यता की कोई लड़की अगर पा जाए कोई ऊँचे पद का पति तो उसको भी यही लगता है, उसके आसपास के लोगों को भी यही लगता है कि इसकी तो ज़िन्दगी बन गई न, और होता भी यही है। कल तक दस-दस, बीस-बीस रुपय माँ-बाप से माँगती थी और मिलते नहीं थे, अब अचानक पति मिल गया है जो किसी ऊँचे पद पर कार्यरत है, लाखों गिरने लग गए घर में। वो कहती है, "बढ़िया! इतना कमाने के लिए तो पति को बड़ी मेहनत करनी पड़ी, बड़ी पढ़ाई करनी पड़ी, बड़ा व्यवसाय जमाना पड़ा, और मुझे सिर्फ़ विवाह करना पड़ा। जो कुछ पति ने हासिल किया इतनी मेहनत करके, वो मैंने हासिल कर लिया बस विवाह करके।" तो हासिल तो हो जाएगा लेकिन हासिल करने लायक नहीं है। मैं यही प्रार्थना कर रहा हूँ कि अगर इस तरह के विचार हों तो ऐसे विचारों से बचो!

सब स्त्रियों, सब औरतों में ऐसे विचार नहीं होते, कोई मेरी बात को अन्यथा न ले। स्त्रियों पर लांछन लगाने का या उनको आहत करने का मेरा नहीं इरादा है। पर समाज में और स्त्रियों के बड़े वर्ग में अभी भी ऐसी मान्यता है, इसीलिए मजबूर होकर मुझे इस बात को उद्घाटित करना पड़ रहा है। तो इस मामले में सफल हो जाओगे कि पहले हाथ में पैसा नहीं रहता था, बाप भी पैसा नहीं देता था, बाप कहता था, "अभी तुझे खर्च करने के लिए क्यों दूँ, वो पैसा मैं जोड़ रहा हूँ दहेज के लिए"। तो एक सलवार सूट में काम चलता था। अब ऊँचा पति मिल गया है तो बहार है। बोलो कौन सी डिज़ाइनर ड्रेस खरीदनी है?

गलत है ये व्यवहार!

और अब पतियों की बात कर लो। बड़ा लक्ष्य तो यही होता है कि?

प्रश्नकर्ता: लड़की मिल जाए।

आचार्य प्रशांत: यहाँ श्रोताओं से दो-तीन आवाज़ें उठी हैं। किसी ने कहा, "लड़की मिल जाए", किसी ने कहा, "संभोग के लिए कोई मिल जाए"। पुरुष भली-भाँति जानते हैं कि उन्हें विवाह क्यों करना है। ये सब ऊपर-ऊपर की बात है कि हमराज़, हमसफ़र; असली बात है—हमबिस्तर। तो अगर ये तुम्हारा लक्ष्य है तो इसमें सफलता मिल जाएगी, यौन सुख मिलने लगेगा। और तुम्हारा लक्ष्य ये है कि माँ को बहू लाकर देनी है तो उसमें भी सफलता मिल जाएगी। लड़का भले ही कितना बेअदब-बद्तमीज़ रहा हो, जीवन भर उसने माँ-बाप की सुनी न हो—माँ को मुँह पर गरियाया हो, बाप को जूता मारा हो—लेकिन जब विवाह का समय आता है तो कहता है, "माँ का दिल कैसे तोड़ सकता हूँ? अरे, माँ की आज्ञा है, शिरोधार्य है!" तूने ज़िन्दगी में और कब माँ की आज्ञा मानी थी? पर इस चीज़ के लिए बताएगा, "वो माँ को बहू की तलाश है न। और दादी, वो दम तोड़ने को राज़ी नहीं बुढ़िया! वो कहती है जब तक छौना हाथ में लेकर अपने ऊपर मुतवा नहीं लूँगी, तब तक मुँह में गंगाजल नहीं लूँगी।"

(श्रोतागण हँसते हैं)

दादी के बड़े तुम भक्त हो गए अचानक! और यही दादी जब बिस्तर में पड़ी-पड़ी कहती है कि मेरे लिए दवाई ले आ दे, तो तुम क्रिकेट का बल्ला उठाकर बोलते थे कि, "नहीं, मार नहीं दूँगा, खेलने जा रहा हूँ"। तब तुम्हारे पास इतनी कद्र नहीं थी दादी की कि दादी को समय पर दवा लाकर दे दो। पर अब तुम बड़ी बात बताते हो कि, "मैं तो दादी-भक्त हूँ। दादी का दिल रखने के लिए शादी कर रहा हूँ कसम से, नहीं तो मैं तो पैदा ही हुआ था ब्रम्हचारी!" हाँ, इस तरह के तुम्हारे इरादे हैं कि घरवालों को खुश करना है, इसकी इच्छा बतानी है, ये करना है, बहाना देना है, तो ठीक है!

और भी होती हैं बातें, बड़ी अजीब बातें हैं। समझना! विवाह के पीछे मकसद किस तरीके के होते हैं। भारत में उत्सव मनाने के बड़े कम मौके मिलते हैं। वो भी स्त्रियों को तो और कम मिलते हैं। घर से बाहर निकल नहीं सकतीं। ले-दे कर साल में दो बार होली-दीवाली आ जाती है। उसमें भी अधिकांशतः घर में ही रहती हैं। हाँ, भैयादूज आ गई, राखी आ गयी तो थोड़ा बाहर जाकर राखी बाँध आईं, इतना ही होता है। पश्चिम की तरह तो है नहीं भारत, कि जब चाहो तब खुशी मना लो, प्रफुल्ल हो लो, उत्सव मना लो, हँस-गा लो, कहीं नाच आओ। तो स्त्रियों को खास तौर पर विवाह उत्सव की बड़ी आकांक्षा रहती है। चार-पाँच दिन खूब सजेंगे और जो समाज स्त्रियों का आमतौर पर शोषण करता है, दमन करता है, उत्पीड़न करता है, विवाह के पाँच दिनों में स्त्रियों को छूट दे देता है। तुमने देखा है न? वो

स्त्रियों के जीवन के कुछ ऐसे दिन होते हैं जिन दिनों उन्हें पूरी छूट मिल जाती है, वो गाली भी गा देती हैं। विवाह में गाली गा सकती है। किसी को भी गाली गा देंगी, दे दी गाली। सड़क पे दे सकती हैं गाली? नहीं। मैं मेट्रो शहरों की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं छोटे शहरों, सामान्य शहरों, कस्बों-गाँवो की बात कर रहा हूँ। तो स्त्रियों को बड़ा आकर्षण रहता है— सजेंगे, हीही-हीही करेंगें, गहने पहनेंगे, अच्छी-अच्छी साड़ियाँ डालेंगे, श्रृंगार करेंगे। तुम्हें इन सब बातों की चाहत हो तो कर लो विवाह। पाँच दिन को ही सही, घर में उत्सव उतरा। बड़ी धूम मची। लेकिन अगर ये कह रहे हो कि इससे अकेलापन मिट जाएगा, तो वो तो नहीं मिटने का। हाँ, शादी का वीडियो बन जाएगा और अब तो वो होता है न, वो प्री-वेडिंग शूट। ऊपर वो खिलौना कैमरा लेके घूमता है और नीचे कहा जाता है कि, "चलो, अब तुम शाहरुख खान हो, तुम काजोल हो। जितनी हसरतें हैं, निकाल लो अभी सब।" वो सब हो जाएगा। एक दिन के लिए ही सही, हीरो-हीरोइन तो बन गए न। हमारा भी एल्बम बना, हमारी भी पिक्चर बनी।

तुम्हारे भीतर जितनी हीन भावना होगी, उतना तुम चाहोगे कि एक दिन के लिए ही सही, हम भी राजा-रानी बन जाएँ। विवाह के दिन हर लड़का, चाहे वो कैसा भी हो, घोड़ी पर तो चढ़ लेता है न? नहीं तो ऐसे तो टट्टू भी उसको अनुमति न दे। टट्टू भी बोलेगा, "मैं तुझपर चढ़ूँ, वो ज़्यादा शोभा देगा, औकात देख किसकी ऊपर है!" पर विवाह के दिन एक से एक मूर्खानन्द घोड़ी चढ़ने को पा जाते हैं। तो अगर घोड़ी चढ़ने के तुम्हारे अरमान हैं तो कर लो विवाह। लेकिन ये मत कहना कि उससे अकेलापन दूर हो जाएगा और विवाह के दिन कैसी भी लड़की हो, एक दिन के लिए राजकुमारी बन जाती है। बन जाती है न? एक रात की राजकुमारी। और बड़ा अरमान रहता है कि वहाँ सिंहासन पर बैठेंगे। लोग आएँगे ऐसे *(हाथ से भेंट देने का इशारा करते हुए)* भेंट अर्पित करेंगे, बड़ा अच्छा लगता है। बिलकुल तर जाते हैं, एकदम गीले। है न? अनुभवी लोग हुंकारा भरते चलें!

(श्रोतागण हँसते हुए)

मुझे भी वरना बड़ा अकेलापन लगता है। और फिर दहेज में मिले स्कूटर पर नई-नई पत्नी को बैठाकर के कस्बे में शोभायात्रा निकालने का गौरव ही दूसरा है। झाँकी निकली है भाई, पूरा शहर देखता है। हर कोण से झाँक-झाँक कर देखता है। बड़ा गौरव प्रतीत होता है और फिर साधारण से साधारण स्त्री भी जब माँ बन जाती है तो यकायक वो सम्मान की पात्र हो जाती है, देखा है?

तो बड़ी प्रेरणा उठती है कि करो ये सब। कर लो ये सब, सम्मान मिल जाएगा। मैं नहीं मना कर रहा। ठीक! सम्मान ही चाहिए, ये सब करके तो मिल जाएगा, पर अकेलापन तो नहीं दूर होगा। वो अकेलापन तो तुम्हें भीतर-भीतर खाता ही रहेगा, बींधता ही रहेगा। मर भी जाओगे, तो भी वो अकेलापन नहीं मिटेगा। इतनी सस्ती चीज़ नहीं है साधना की आग, कि फेरे लेकर के पूरी हो जाए। उस आग में अपनी आहुति देनी पड़ती है। फेरे लेने भर से काम नहीं चलेगा। यज्ञशाला में खुद को ही समिधा बना देना होता है। बाकी सब ठीक है। नाश्ता वगैरह सुबह अच्छा मिलेगा, टिफिन पैक हो जाया करेगा। नहीं तो बेचारे कुँवारों का तो यही रहता है, दस रुपये के अमृतसरी छोले-कुलचे। रूखे लग रहे हों तो दस रुपये का बूंदी रायता भी मिलेगा साथ में। वह बेचारे इसी पर पलते हैं। बीवी आ जाती है तो तर माल, मिल्टन के टिफिन में पैक होकर मिलता है। वही टिफिन जो दहेज में लाई होती है साथ में। कभी दहेज का सामान देख लेना, उसमें टिफिन ज़रूर होगा। बढ़िया सेहत बनती है। तोंद निकल आती है, नई पैंट खरीदनी पड़ती है। चमक आ जाती है पैंट में, नई है भाई! जितने बेचारे यहाँ छड़े बैठे हैं वो भावुक हो रहे हैं। कह रहे हैं, "अगर इतने लाभ हैं तो आचार्य जी पहले क्यों नहीं बताया?" लाभ ही लाभ हैं।

९. इस अकेलेपन की वजह और अंजाम जानती हैं ?

प्रश्नकर्ता: प्रणाम आचार्य जी, अभी मैं मास्टर्स कर रही हूँ, सेकंड ईयर में, आई.आई.टी. चेन्नई से रिसर्च कर रही हूँ। एकदम मैकेनिकल हो गए हैं, उसमें कुछ नया ही नहीं लगता। मैं बहुत बोरदम महसूस करती हूँ। कुछ उम्मीद नहीं रहती कि कुछ नया या अच्छा होगा। यदि कभी कुछ अलग सा घटता है तो फिर उस समय में कुछ ज़िंदा महसूस करती हूँ—चाहे वो अलग सा अच्छा हो या बुरा। एक नाउम्मीदी रहती है।

आचार्य प्रशांत: नाउम्मीदी किस चीज़ को लेकर के? आई.आई.टी. चेन्नई में पढ़ाई कर रहे हो, तो पढ़ाई में काफ़ी वक्त जाता होगा?

प्रश्नकर्ता: हाँ।

आचार्य प्रशांत: कुछ बातें मैंने पहले बताई थीं करने के लिए कि यह करनी शुरू करो—वह कर रहे हो या छोड़ दीं?

प्रश्नकर्ता: रेगुलर नहीं हूँ।

आचार्य प्रशांत: उम्मीद किस चीज़ की है जिसको लेकर नाउम्मीदी है?

प्रश्नकर्ता: कुछ तो अलग हो।

आचार्य प्रशांत: क्या चाहिए?

प्रश्नकर्ता: पता नहीं।

आचार्य प्रशांत: और जो चाहिए वह चाहने का वक्त कैसे मिलता है? आई.आई.टी. का शेड्यूल इतना सारा ख़ाली समय तो छोड़ता नहीं कि उसमें बैठकर आदमी सपने विचारे।

पढ़ाई का क्या हाल-चाल है?

प्रश्नकर्ता: चल रही है बस!

आचार्य प्रशांत: अरे, कैसी चल रही है?

प्रश्नकर्ता: पहले जितना मैं फ़ोकस नहीं कर पा रही हूँ जितना मैं बी.टेक. में करती थी। अभी मुझसे नहीं हो रहा है इतना।

आचार्य प्रशांत: और जो काम मैंने बताया था उसमें रेगुलर नहीं हो?

प्रश्नकर्ता: जी।

आचार्य प्रशांत: तो पढ़ाई में फ़ोकस नहीं है और जो मैंने रीडिंग बताई थी, और आर्ट्स बताए थे, स्पोर्ट्स बताए थे, उसमें रेगुलर नहीं हो। उधर फ़ोकस नहीं इधर रेगुलेरिटी नहीं। कुल मिला-जुला के क्या बच गया बहुत सारा? खाली समय! और उस खाली समय में क्या पक रहा है?

प्रश्नकर्ता: बोरियत।

आचार्य प्रशांत: बोरियत और नाउम्मीदी। यह अच्छी बात है कि अभी तक सिर्फ़ उसमें बोरियत और नाउम्मीदी पक रही है। बहुत दिनों तक नाउम्मीद नहीं रहोगे। मालूम है क्या करोगे? उस खाली समय को भरने के लिए कहीं से कचरा ले आओगे और वह कचरा ऐसा होगा जो 'उम्मीद' देता होगा। उम्मीद का वादा करता होगा। और उस कचरे से अपने खाली समय को भर लोगे—जय राम जी की! उसके बाद आचार्य जी भी नहीं होंगे सवाल पूछने के लिए।

आप अभी जीवन के जिस पड़ाव पर हैं—शिक्षा के भी, उम्र के भी—बहुत सारे कचरे होते हैं जो मन को और ज़िंदगी से भरने के लिए आतुर होते हैं। अगर तुमने अपनेआप को खाली छोड़ा, तो कुछ दिनों तक तो निराश रह लोगे, कुछ दिनों तक तो एक बोरियत रहेगी, जीवन से एक निराशा रहेगी, सूनापन, ख़ालीपन रहेगा—लेकिन बहुत दिनों तक तुम निराशा और ख़ालीपन बर्दाश्त करोगे ही नहीं। तो फिर तुम क्या करोगे? तुम जाकर के किसी हैंडसम कचरे को आमंत्रित कर लाओगे और वह तुम्हारी ज़िंदगी के सूनेपन को और निराशा को बिलकुल उम्मीद से भर देगा। बहुत पुरानी कहानी है, यह आज की नहीं है। यह लाखों साल पुरानी कहानी है। सबकी ज़िंदगियाँ ऐसे ही भरी जाती हैं।

अभी तो फिर भी ठीक है। जिस दिन कैंपस से पास-आउट हो जाओगे, और मान लो किसी जॉब में चले गए, तो कैंपस में तो फिर भी ठीक था—बहुत बड़ा कैंपस है, फैसिलिटीज़ हैं

और साथ के लोग हैं—जब जॉब वगैरह पर जाते हो तो वहाँ और सूनापन लगता है, ख़ासतौर पर जो लोग कैंपस से निकलकर जॉब में जाते हैं। और पहली जॉब में जाते हैं, परेशान हो जाते हैं। और हिंदुस्तान है, हिंदुस्तानी लड़की तो और ज़्यादा परेशान हो जाती है। और, और ज़्यादा परेशानी बढ़ जाती है जब पता चले कि सिर्फ हम ही निराश बच रहे हैं, बाकी सबको आशाएँ मिलती जा रही हैं एक-एक करके शहनाईयाँ बजती जा रही हैं। कुछ यह हो रहा है, कुछ वह हो रहा है। फिर जल्दी से हम भी कोई ढूंढ लाते हैं आशा देने के लिए।

इसलिए जब पिछली बार बात हुई थी तो मैंने कहा था कि अपनेआप को खाली मत छोड़ना, सुंदर-से-सुंदर और ऊँचे-से-ऊँचे तरीके से अपनी ज़िंदगी को भर लो—म्यूज़िक सीखो, स्पोर्ट्स में एक्टिव हो जाओ, अपने क्षेत्र में जितना तुमको मिनिमम कंपलसरी काम है उससे आगे जाकर के प्रोजेक्ट्स उठाओ, एक-एक क्षण को लाद दो काम से।

प्रश्नकर्ता: शुरुआत में मैं कर रही थी।

आचार्य प्रशांत: बेटा, आप समझ भी रहे हो कि शुरुआत के बाद आपको रोक कौन रहा है? आप समझ ही नहीं रहे न? कौन है जो आपका मन किसी भी ढंग के काम में नहीं लगने दे रहा? आप समझ ही नहीं रहे न? कौन है जो आपको खाली समय इतना दे रहा है? जानते हो कौन है वो? उसी का नाम 'रानी' है। आप अगर महिला हैं तो मैं कहूँगा उसका नाम है 'रानी'—सिंगल-सेल्ड *(एक कोशिकीय)* रानी है वो। और अगर आप पुरुष हैं तो मैं कहूँगा उसका नाम 'बादशाह' है—वो भी सिंगल-सेल्ड बादशाह है। वो अपने मतलब के लिए आपके पूरे मानसिक माहौल को बदले दे रहा है, मैनिपुलेट कर रहा है, और उसका इरादा बस एक है—वह जो सिंगल सेल है, वह डबल हो जाए।

हमारी यह जो पूरी व्यवस्था है *(शरीर की ओर इशारा करते हुए),* वो नौकर है उस रानी की। उस रानी का क्या नाम है? अंडाणु। और अगर आप पुरुष हैं तो आपकी पूरी व्यवस्था नौकर है किसकी?
शुक्राणु की। अब उसके पास मुँह तो है नहीं कि वह आपसे आकर बोले कि—"मुझे फर्टिलाइज़ होना है। मुझे फर्टिलाइज़ होना है।" तो वो आकर के सीधे नहीं बोलेगा कि मैं फर्टिलाइज़ होना चाहता हूँ या मैं फर्टिलाइज़ करना चाहता हूँ—वह यह सब तरीके निकालता है। वह आपके भीतर एक उदासी भर देगा, वह आपके भीतर एक सूनापन, अकेलापन भर देगा और खास तौर पर जवान लोगों में। शामें वीरान हो जाएँगी, रातें तन्हा हो जाएँगी, और आपको लगेगा यह सब तो कुछ ऊँचे तल का काम हो रहा है। यह तो कुछ शायराना काम हो रहा है। आप गज़ल वगैरह सुनोगे। हो सकता है लिखने भी लग जाओ

कुछ कविता या ग़ज़ल लिख डालो। आपको लगेगा यह तो कुछ उस *(ऊँचे)* तल का काम हो रहा है—“मैं और मेरी तन्हाई अक्सर यह बातें करते हैं”।

अरे! यह तन्हाई का काम नहीं है। यह किसका काम है? यह एक बहुत छोटे से उपद्रवी का काम है। बहुत छोटा सा उपद्रवी है, वह यह सब करवा रहा है। उसी का नाम प्रकृति है। उसका कुल इरादा इतना ही है कि आपका शरीर किसी ऊँचे काम में न लगे, बस बच्चा पैदा करने की मशीन बना रहे। प्रकृति को आपकी पी.एच.डी. में कोई रुचि नहीं है देवी जी। प्रकृति को कोई समस्या नहीं होगी अगर आप अपना एम.टेक. भी छोड़ दो। आप आई.आई.टी. से आज बाहर निकल जाओ, प्रकृति ताली बजाकर हँसेगी। उसे कोई समस्या नहीं है। वह खुश हो जाएगी बल्कि।

प्रकृति माने समझ रहे हो न? यह जो देह लेकर बैठे हो, और उस देह के भीतर जो अंडाणु लेकर बैठे हो, वह चाहते ही यही हैं कि तुम आई.आई.टी. भी छोड़ दो। प्रकृति के लिए तो यह बहुत तकलीफ़ की बात हो जाती है अगर तुम ज्ञान की सेवा में निकल जाओ, और प्रकृति को खासतौर पर तकलीफ़ होती है जब कोई महिला ज्ञान की दिशा में आगे बढ़ती है। महिलाओं की तो प्रकृति ने पूरी व्यवस्था कर रखी है अज्ञानी ही रखने की। इसीलिए देखा नहीं है, महिलाएँ कितनी भावुक होती हैं। यह भावनात्मकता और क्या है? यह बस प्रकृति के मिशन को आगे बढ़ाने का औज़ार है और उसी भावुकता की एक अभिव्यक्ति ये सूनापन है—शाम सुनसान है और रातें तन्हा हैं। फिर रातों में आदमी ग़ज़ल सुनता है और फिर एफ.एम. में भी आ जाते हैं दो-चार। जब वह रातों में बोलते हैं तो वह यहाँ से *(होंटो की ओर इशारा करते हुए)* नहीं बोलते, फिर वह यहाँ से *(गले की ओर इशारा करते हुए)* से बोलते हैं। *(भारी आवाज़ में)* “रात का वक्त है, *(सब हँसते हुए)* सब तन्हा आशिकों को इस बेबस मुसाफ़िर का सलाम!” फिर एक से बढ़कर एक वह आपके लिए ऐसे गाने चलाते हैं कि आप बह निकलते हो बिलकुल और फिर सोने से पहले आप कहते हो—अब थोड़ा नौकरी डॉट कॉम छोड़कर शादी डॉट कॉम देख लिया जाए, नहीं तो फिर पोर्न। और क्या करोगे?

पिछली बार भी चेतावनी दी थी, फिर कह रहा हूँ, ज़िंदगी को, तुम्हें जो भी सबसे ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य समझ में आता है, उसमें डुबो दो, नहीं तो तत्काल और घातक अंजाम होते हैं। ऐसी राहों पर निकल पड़ते हो कि फिर वापस नहीं लौट पाते, खासतौर पर हिंदुस्तान में। यहाँ पर लौटने की गुंजाइश बड़ी कम होती है। गलतियाँ अगर कर दीं जवानी में तो उम्र भर के लिए हो जाती हैं। और सब गलतियाँ शुरू यहीं से होती हैं—जहाँ पर बैठे हो आप अभी।

प्रश्नकर्ता: शादी की बात कर रहे हो आप, गलती मतलब?

आचार्य प्रशांत: बेटा, शादी नहीं होगी तो कुछ और होगा, लेकिन जो मूल सिद्धांत है वो तो समझो! क्यों कोई मुँह चुराता है ऊँचे साहित्य से? दुनिया में जो ऊँचे-से-ऊँचे लोग हुए हैं, वह आज सिर्फ किस रूप में उपलब्ध हैं आपको? किताबों के रूप में उपलब्ध हैं न? मैं आपको बोलकर गया कि आप ऊँचे-से-ऊँचा साहित्य पढ़ो। वह ऊँचा लिटरेचर पढ़ने का मतलब होता है उन सब लोगों के साथ बैठना जो मानवता के हीरे-मोती हैं, उनकी संगति करना। अब सोचो अगर तुमको उनकी संगति पसंद नहीं आ रही है, उसमें मन नहीं लग रहा है, तो निश्चित रूप से किसी और की संगति चाहिए न? दिख नहीं रहा? बोलो? समझ में नहीं आ रही बात?

 मैं अगर आपसे कहूँ यह लिटरेचर पढ़िए और जानिए दुनिया को, दुनिया के वैज्ञानिकों को जानिए, लेखकों को जानिए, चित्रकारों को जानिए, वह सब लोग जो इतिहास भर में जानने लायक हैं, उनकी बात को समझिए—उन्होंने क्या कहा, कैसे वह जिए, क्या उनका दर्शन था, क्या उनका संदेश था, यह जानिए। और आप कहें, "नहीं साहब, उनकी संगति में तो मुझे रुचि नहीं आ रही", तो मामला साफ है न? इसका मतलब क्या है? आपको किसी और की संगति चाहिए। किसकी संगति चाहिए?

अब भाई! वह लोग तो देहवादी थे नहीं। उनकी बातों में गहराई और गंभीरता है, चाहे आइंस्टाइन हों चाहे रमण महर्षि हों। वहाँ आपको मनोरंजन तो मिलेगा नहीं, तो वहाँ फिर अच्छा नहीं लगता।
अगर वहाँ अच्छा नहीं लग रहा है, तो सोचो तो कहाँ अच्छा लग रहा? कोई-न-कोई मिल जाएगा जल्दी ही अच्छा लगाने वाला। "हे! सेनोरीटा!"—अब गए रमण महर्षि! अब कौनसा फेनमैन और कौनसे आइंस्टाइन? और कौन श्रोडिंगर? अब तो यही लगेगा कि चलो वीकेंड आ गया, आज एक और नई जगह घूमकर आते हैं। "आज संडे है, आज पूरा दिन तुम्हारे साथ बिताऊँगी जानू!"

आप कहोगे, "आचार्य जी, मेरी ज़िंदगी में न कोई बॉयफ्रेंड, न कोई लड़का है, आप इस कहानी को किस दिशा में खींचे लिए जा रहे हो?" बेटा, मैं कहानी को उसी दिशा में खींचे लिए जा रहा हूँ जिस दिशा में वह कहानी लाखों सालों से बह रही है। और तुम उस कहानी का अपवाद नहीं हो सकतीं। तो हो सकता है आज तुम्हारे जीवन में कोई लड़का न हो, पर यह जो सारी तैयारी चल रही है, यह उसी चीज़ की चल रही है। यह भी हो सकता है कि तुम्हारे मन में किसी लड़के इत्यादि का अभी कोई विचार न आता हो, लेकिन निचले तल पर—विचार नहीं, वृत्ति के तल पर—सबकॉन्शियसली *(अवचेतन में)* यह जो पूरी तैयारी चल रही है, यह सिर्फ उसी चीज़ की चल रही है क्योंकि प्रकृति और कुछ चाहती ही नहीं है

एक जवान लड़की से। और तुम जो कुछ कर रही हो, उसका कुल नतीजा भी वही है। तो मेरी बात को इतनी आसानी से ख़ारिज मत कर देना कि, "ये तो यूँ ही तुक्के मार रहे थे। बेसिर पैर की बातें कर रहे थे।"

मैं बेसिर पैर की बातें नहीं कर रहा हूँ। तुमको अभी सिर्फ अपना सूनापन दिखाई दे रहा है, मुझे यह भी दिखाई दे रहा है कि तुम्हारा यह सूनापन 'क्यों' है और इसे 'कौन' भरेगा। इस सूनेपन का और कोई सबब है ही नहीं। यह जो विस्टफुलनेस (उत्कंठा) होती है न, ये जो साँझ ढले की आह होती है, ये कभी किशोरों में नहीं निकलती, बच्चों में नहीं निकलती—यह जैसे ही जवानी आती है, वैसे ही हो जाता है।

आपको पता ही नहीं चलता कि आप क्यों गमगीन हो, बस यूँ ही उदास हैं। वह 'यूँ ही' की नहीं उदासी है। समझो! दोहरा रहा हूँ, तिहरा रहा हूँ, क्योंकि ज़रूरत है। वह उदासी यूँ ही नहीं है, वह उदासी तुमसे बस एक काम कराना चाहती है। जो लोग अकेलेपन के रोगी हैं कि, "हम अकेले नहीं रह सकते। अकेले नहीं रह सकते!" वह साफ समझ लें कि—कौन है जो अकेला नहीं रह सकता? वही अंडा! उसका तो काम ही है अकेले नहीं रहना। उसको दुकेला चाहिए।

'लोनलीनेस' का मतलब तो समझो! कह रही है, "मुझे अकेला नहीं रहना"। अकेला नहीं रहना माने किसके साथ रहना है? रमण महर्षि के साथ तो रहना चाहती नहीं तुम।

प्रश्नकर्ता: सॉल्यूशन क्या है इसके अलावा?

आचार्य प्रशांत: सॉल्यूशन तो बताया गया था, वह तुमने ख़ारिज कर दिया—"बुड्ढा बेकार की बातें बता गया है! फ़ालतू में टाइम खोटा करता है।" क्या-क्या बताया था मैंने? मैंने कहा था खेलो। मैंने कहा था अभी कैंपस में हो, इससे ज़्यादा अच्छा मौका नहीं मिलेगा स्पोर्ट्स पर हाथ साफ करने का। अभी साल-दो-साल हैं किसी एक स्पोर्ट में आगे बढ़ जाओ। ठीक-ठीक याद नहीं है अभी साल भर पुरानी बात हो गई शायद।

प्रश्नकर्ता: स्पोर्ट्स, की-बोर्ड।

आचार्य प्रशांत: हाँ, म्यूज़िक बोला था और रीडिंग तो निश्चित रूप से बोला होगा।

प्रश्नकर्ता: नहीं, वीडियोज़ बोला था और एक सोशल ग्रुप से जुड़ने को बोला था।

आचार्य प्रशांत: हाँ! एक सोशल कॉज़ से जुड़ने को बोला था कि एक बड़े अभियान में सम्मिलित हो जाओ। ये तीन-चार चीज़ें बोली थीं, इसमें से किसी एक में भी डूब गए होते तो काम हो जाता अब तक।

प्रश्नकर्ता: जी, मैं सोशल ग्रुप से जुड़ी हुई हूँ।

आचार्य प्रशांत: जुड़ना माने ये थोड़े ही होता है कि अपना नाम लिखा आए बस।

प्रश्नकर्ता: नहीं, नहीं, काम करते हैं।

आचार्य प्रशांत: तो काम यदि करते होते तो समय लगता काम में। तो खाली समय कैसे है?

प्रश्नकर्ता: पूरा टाइम नहीं जाता उसमें।

आचार्य प्रशांत: तो पूरा ही देना होता है, बेटा! ये जो बचा लेते हो, जो चुरा लेते हो, यही समय तो फिर भारी पड़ता है न? खाली समय अपनेआप को देना ही नहीं चाहिए।

अच्छा, अगर तुम मधुमेह के रोगी हो, डायबिटीज़ के, और तुम्हें बहुत सारी टॉफियाँ मिल गयी हैं, तो तुम क्या करोगे? जल्दी बोलो क्या करोगे?

प्रश्नकर्ता: दूर रखेंगे।

आचार्य प्रशांत: दूर रखोगे तो कहाँ रखोगे? अपने से ही तो दूर रख दोगे। *(पास का इशारा करते हुए)* वहाँ रख दी हैं। क्या करना चाहिए?

प्रश्नकर्ता: किसी को दे देना चाहिए।

आचार्य प्रशांत: बाँट देना चाहिए न? हाँ! तो हम डायबिटीज़ के रोगी हैं, और ये जो गोलियाँ हैं, ये समय के पल हैं, अगर तुमने इन्हें खुद खा लिया तो मरोगे। ये जो 'पर्सनल टाइम' है न, जो 'पर्सनल कंज़म्पशन ऑफ टाइम' है, समय का व्यक्तिगत उपयोग, ये तुम्हें मार देगा जैसे शक्कर मधुमेह के रोगी को मार देती है।

समय मिले तो उसे तत्काल दूसरों में बाँट दो, और दूसरों से मेरा मतलब ये नहीं कि बगल के कमरे में घुस गए और कहे कि, "उसको मिठाई बाँटने आए हैं—टॉफ़ी"। उसे किसी सार्थक काम में लगा दो। समय मिले तो उसे तत्काल किसी सार्थक काम में लगा दो। एक टॉफ़ी भी तुमने बचा ली, समय का एक पल भी अगर तुमने अपने लिए बचा लिया तो मरोगे।

देयर इज़ नो हेल एक्ससेप्ट पर्सनल टाइम *(व्यक्तिगत समय के अलावा और कोई नरक नहीं है)* । लेकिन हमें बड़ा अच्छा लगता है, हम बार-बार बोलते हैं, "थोड़ा पर्सनल टाइम मिलना चाहिए न। थोड़ा पर्सनल टाइम मिलना चाहिए न।" करोगे क्या पर्सनल टाइम का? ग़ौर तो करो क्या करोगे! जिसको तुम पर्सनल टाइम बोलते हो, वही तो ज़िंदगी का नर्क है। सारे उपद्रव उसी में तो करते हो। आज अपनी ज़िंदगी के सब झंझटों को देखो और साफ़ दिखाई देगा कि वो सब के सब पैदा हुए थे तुम्हारे 'पर्सनल टाइम' में। न होता पर्सनल

टाइम, न होते इतने उपद्रव। ये सज़ा मिली है समय चुराने की, कि आज सौ झंझटों से घिरे हुए हो।

प्रश्नकर्ता: लगातार काम कैसे कर सकते हैं?

आचार्य प्रशांत: *(व्यंग कसते हुए)* काम तो थोड़ी देर के लिए होता है न ताकि उसके बाद आराम हो और मज़ें हों। काम तो है ही इसीलिए ताकि उस से जो प्रॉफिट आए या रिज़ल्ट आए या पैसा आए, जो परिणाम आए, उसका बाद में कंज़म्पशन, उपभोग किया जाए।

इसीलिए आदमी की कोशिश रहती है कि कम-से-कम समय में ज़्यादा-से-ज़्यादा आउटपुट निकाल लें। चार घंटे काम करके अगर बीस घंटे पर्सनल टाइम मिल जाए तो कितना मज़ा आए? है न? पूरी इकोनॉमिक थ्योरी यही है न? और ये मूर्खता है! ज़िंदगी ऐसी जियो, काम ऐसा चुनो कि उससे एक सेकंड को भी हटने का न मन करे—न ज़रूरत पड़े। और अगर तुम्हारा काम ऐसा है कि उसके बाबत तुम्हें कहना पड़ता है कि—आचार्य जी, काम कोई कितना कर सकता है? तो इसका मतलब है कि तुम काम ही घटिया कर रहे हो। काम ऐसा होना चाहिए जिसको तुम चौबीस में से अठ्ठाईस घंटे कर सको और तब भी लगे कि—काश! अभी थोड़ा और कर पाते।

अगर तुम्हारा काम ऐसा नहीं है कि चौबीस में से उसे तुम अठ्ठाईस घंटे कर सकते हो, तो तुम घटिया काम कर रहे हो कोई—पैसे के लिए कर रहे होगे। काम तुम्हारा अगर ऐसा है कि घड़ी देखते हो कि कब छह बज जाएँ, फिर कार्ड स्वाइप करके बाहर आएँ, और घर को जाएँ, जहाँ 'पर्सनल टाइम' मिलेगा, तो बहुत जहन्नुम जैसी ज़िंदगी जी रहे हो।

प्रश्नकर्ता: रिसर्च फ़ील्ड मैंने ही चुना था। प्रोजेक्ट भी मेरे मन का ही मिला है। सबकुछ सही है। पर मेरा मन उखड़ा रहता है।

आचार्य प्रशांत: तुम्हारा जो चुनाव है वो 'ज्ञान' से आ रहा है और उस चुनाव के प्रति तुम्हारी जो ऊब है, वो तुम्हारे 'शरीर' से आ रही है। तुम ऊँची-से-ऊँची चीज़ भी चुन लो, शरीर तो अपना ही राग अलापेगा न? वो जो अंडा बैठा है भीतर, उसे ऊँचाई नहीं चाहिए—उसे साथी चाहिए, शुक्राणु। तुमने ऊँची-से-ऊँची चीज़ चुनी है अपने लिए, पर मैंने अभी कहा न, प्रकृति को 'ज्ञान' से क्या लेना-देना? तुमने ज्ञान मार्ग चुना है, तुम कह रही हो कि तुम आई.आई.टियन हो, रिसर्च करोगी, ये सब तुमने चुना, पर ये बात इस देह को तो समझ में आती नहीं न। इसका तो एक ही काम है—डी.एन.ए. आगे बढ़ाना। इसकी इसमें, मैंने कहा तो, कोई रुचि ही नहीं है कि तुम कितना ऊँचा काम करती हो ज़िंदगी में। तो तुम चुन लोगी बहुत ऊँचा काम, लेकिन ये फिर भी क्या चिल्लाएगा?—"मैं तो अकेली हूँ, मैं तो सूनी हूँ, मेरा मन नहीं लगता, मैं तो ऊब रही हूँ, मेरी रुचि नहीं आ रही"। जबकि तुमने जो चुनाव

किया है वो बिलकुल सही है, एकदम ठीक है, तुमने कोई गलती नहीं करी है। लेकिन ये *(शरीर की तरफ इशारा करते हुए)* भाँजी मारेगी—अंडे उछलेंगे।

प्रश्नकर्ता: तो हमें क्या हमेशा फ़ोकस रहना चाहिए?

आचार्य प्रशांत: *(व्यंगात्मक तरीके से)* नहीं, हमेंशा छितराए हुए रहना चाहिए!

प्रश्नकर्ता: कैसे?

आचार्य प्रशांत: कैसे कैसे क्या? अभी कैसे हो? अभी यहाँ इतने लोग हैं, छितराकर सबको देख रही हो क्या? अभी हो न फ़ोकस्ड? तो तुम्हें आता है फ़ोकस्ड रहना। बस जैसे अभी हो, वैसे ही सदा रहो—एकनिष्ठ! सत्यनिष्ठ!

एक बार जान जाओ क्या चीज़ सही है, फिर कोई कितना भी ललचाए, रुझाए, डराए—उसकी ओर देखो मत। बस ये है कि जो तुम्हें ललचाता है, डराता है, रुझाता है, वो कोई बाहर वाला नहीं है। वो कौन है? वो अपना ही जिस्म है। वही हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है, अपना ही शरीर। तो हम जो अपने सबसे सुंदर और पवित्र निर्णय भी लेते हैं, उनको ख़राब कौन कर देता है? हमारा ही शरीर। इसके भीतर *(शरीर की ओर इशारा करते हुए)* ही तो दुश्मन बैठा है हमारा, और कौन है? शैतान यही है।

“हे राम! मुझे मुझसे बचा!”

और क्या प्रार्थना होती है?

१०. पति-पत्नी को साथ रहना ही है, तो ऐसे रहें

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, जब मैं आपको नहीं सुनता था तो ऐसा सोचता था कि जो माता-पिता शादी करवाते हैं वह कुदरती घटना है। फिर लगा कि लव मैरेज क़ुदरती होती है और अरेंज मैरेज सामाजिक होती है। तब तक मेरी शादी हो चुकी थी। यह मेरी धर्मपत्नी हैं। लेकिन शादी के बाद आप जैसा प्रेम परिभाषित करते हैं, हम वैसा प्रेम नहीं कर रहे हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि हम अलग होना चाहते हैं, तो जैसा प्रेम आपने परिभाषित किया था उसको जीवन में कैसे उतारें?

आचार्य प्रशांत: इनको आगे करके तो सवाल पूछ रहे हो।

(सभी श्रोता हँसते हैं)

दो लोग हैं जो एक दूसरे के लिए सहृदयता रखते हैं, ज़ाहिर है कि यह अच्छी बात है। लेकिन जब किसी का भला चाहते हो तो यह ज़िम्मेदारी आ जाती है न कि पता भी हो भलाई किस चिड़िया का नाम है? नहीं तो चाहने भर से थोड़े ही होगा।
बाहर गाड़ी खड़ी है मेरी, कुछ आवाज़ कर रही है, पता नहीं वापस मैं शहर तक ठीक-ठाक पहुँचूँगा कि नहीं। आपमें से कितने लोग चाहते हैं कि मैं ठीक-ठाक पहुँच जाऊँ वापस? सब चाहते हैं।

(मुस्कुराते हुए) चाहने से क्या होगा?

उसके इंजन का, उसकी प्रक्रिया और प्रणालीयों का कुछ पता भी तो होना चाहिए न। या जाओगे और उसको फुसफुसाओगे कि, “देखो-देखो यह हमारे बड़े प्यारे मित्र हैं, इनको

सकुशल पहुँचा देना", तो वो पहुँचा देगी? चाहने से कुछ हो जाएगा क्या? तो यह बात सब चाहने वालों को समझनी चाहिए न, चाहने भर से कुछ नहीं हो जाता। मन की जटिलताओं का, मन के खेलों का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी दूसरे का भला कर पाओगे। नहीं तो बड़े अफसोस की बात हो जाती है कि लोग चाहते तो एक दूसरे का हित हैं, लेकिन अनजाने में अहित कर डालते हैं। अपना ही हित नहीं कर पाते लोग, दूसरों का हित कैसे करेंगे?

शुरुआत करी थी सवाल की यह कहकर कि "कुदरती" क्या है—लव मैरिज या अरेंज मैरिज? देखो, यह जो आयोजित विवाह होता है, यह आमतौर पर घर वालों की माया से निकलता है और जिसको प्रेम विवाह कहते हो वह स्त्री और पुरुष की आपसी माया से निकलता है। अब तुम्हें कौनसी माया चाहिए ये तुम चुन लो। एक विवाह वह होगा जिसमें घरवाले, बाकी सब रिश्तेदार मिलकर के अपने हिसाब से तय करते हैं कि तुम्हें किसके साथ होना चाहिए। वहाँ उनका गणित चलता है। और एक दूसरा विवाह होता है जिसमें पुरुष और स्त्री आपस में ही तय कर लेते हैं, वहाँ उनका गणित चलता है। गणित लगाना आता किसी को नहीं है। तो अब तुम्हें किस तरीके से परीक्षा में फेल होना है गणित की, यह तुम चुन लो।

अरे, जब "प्रेम" ही नहीं पता तो प्रेम विवाह कैसे कर डालोगे? और वैसे ही जो घरवाले हैं उनसे पूछता हूँ कि "आयोजन" शब्द का अर्थ पता है क्या? योजना माने क्या होता है? आप जब कहते हो "अरेंज्ड मैरिज" तब कौन यह व्यवस्था करता है, अरेंजमेंट करता है, जानते भी हो? उसको नहीं समझा तो उसके द्वारा रची गई व्यवस्था पर भरोसा कैसे कर लिया? व्यवस्थापक कौन है? यह जो पूरी विवाह की व्यवस्था को रच रहा है, वह कौन है? वह भीतर बैठा "मन" है। वह कह रहा है, "इस तरह लड़के की शादी करा देनी है। इस तरह से लड़की की शादी करा देनी है।" उसी ने तो सारी व्यवस्था रची है न? उस व्यवस्थापक को हम समझते हैं क्या? उसको अगर हम समझ लें तो हम यह भी जान जाएँगे कि वो जो यह पूरी व्यवस्था रचता है—"इसकी शादी यहाँ होनी चाहिए, इसकी शादी इस उम्र में होनी चाहिए, इसकी ठहर के करते हैं, इसकी शादी में ऐसा लेन-देन हो जाए"—वो कहाँ से आती है और क्यों आती है।

वैसे ही जब लड़का-लड़की आपस में कहते हैं कि हमें "प्यार" हो गया है, तो हम पहले जान तो लें कि उनके लिए "प्यार" का अर्थ क्या है? जब हम समझ जाएँगे कि वह किस चीज़ को प्रेम बोलते हैं तो हम यह भी समझ जाएँगे कि वह किस चीज़ को प्रेम-विवाह बोल रहे हैं। यह "कुदरती" शब्द बड़ा झंझट का है। तुम "कुदरती" हटाकर "मायावी" कर दो। और माया तरह-तरह की होती है, जिस रंग की चुननी है, चुन लो। चाहो तो माता-पिता की

तरफ की माया चुन लो, मामा की तरफ की चुन लो, ताऊ की तरफ की चुन लो, रिश्तेदारों की तरफ की चुन लो, कई बार घरों में पंडित वगैरह रिश्ते लेकर आते हैं, उनकी माया चुन लो। यह सब नहीं करना है, इंकलाबी आदमी हो, तो अपनी व्यक्तिगत माया चुन लो। पर ले देकर चुनते तो सभी माया ही हैं। जो प्रेम का वास्तविक अर्थ नहीं समझा वह विवाह चाहे दूसरों के कहने पर करे और चाहे अपनी तथाकथित मर्ज़ी से करे, उसने ले देकर चुनी तो माया ही है।

हाँ! कुछ लोगों को इसमें बड़ा संतोष रहता है कि जब माया ही चुननी है तो दूसरों की दी हुई क्यों चुनें? हम अपनी चुनेंगे! जब पिटना ही है तो यह तो रहे कि अपनी चप्पल से ही पिटे। दूसरों का जूता काहे खाएँ? तो इस तरह की संतुष्टि चाहिए हो तो तुम कह लो कि प्रेम विवाह ज़्यादा ऊँचा होता है। मुझसे पूछोगे तो मैं तो कहूँगा कि पीट तो दिए ही गए। यह जो गाल लाल हो रहा है, उसकी लाली पर थोड़े ही लिखा है कि यह जो चप्पल थी वह तुम्हारी थी या ताऊ जी की? "लाली तो लाली है, क्या उभर के आली है!"
हम प्रेम समझने को तैयार नहीं होते, प्रेम विवाह करने को बड़े उतावले रहते हैं। मुझे बड़ा ताज्जुब होता है, एक से एक नमूने, जिंदगी में जिन्हें कुछ नहीं समझ में आता, जो कुछ नहीं जानते, चौदह साल के होंगे, सोलह साल के होंगे, तभी से एक लफ्ज़ वो जान जाते हैं। क्या? प्यार।

और वह ऐसे कभी सामने पड़ें और मैं कहूँ कि "तुझे गणित नहीं आती, तुझे भूगोल नहीं आता, तुझे यहाँ से लेकर वहाँ तक सीधे चलना नहीं आता, तुझे किसी आदमी से दो बात करना नहीं आता, तुझे अपना गुस्सा संभालना नहीं आता, तुझे कहीं पर समय से पहुँचना नहीं आता, तुझे इंसान बनना नहीं आता, तुझे प्रेम करना कहाँ से आ गया?" या प्रेम ऐसी चीज़ है जिसको करने के लिए कोई पात्रता ही नहीं चाहिए? तो कहेंगे, "आचार्य प्रशांत, तुम नहीं समझोगे! यह दिल की बात है, दिल की। तुम जैसे पत्थर दिल आदमी को नहीं समझ में आएगी। अरे, किताबों से बाहर निकलो, बागीचों में उतरो, तितलियों के साथ खेलो, फिर तुम्हें पता चलेगा इश्क किसको कहते हैं! तुम्हारे जैसे पाषाण हृदयों के लिए इश्क नहीं होता। हमसे पूछो न हम जानते हैं।" पूछो "तुम कैसे जानते हो?" तो कहेंगे, "वो जो ज़ुल्फ़ें उड़ती हैं, वह इश्क है"। "अच्छा, और?" यह बड़े से बड़ा अचम्भा नहीं है दुनिया का कि हद्द दर्जे का नाकाबिल आदमी होगा, जो कुछ नहीं कर सकता, लेकिन प्यार ज़रूर करता है? कैसे भाई, कैसे? कैसे! तो कहेंगे, "नहीं, ऐसे थोड़े ही होता है आचार्य जी! प्यार करने के लिए कोई योग्यता, पात्रता थोड़े ही चाहिए, कोई सर्टिफिकेट थोड़े ही चाहिए।" चाहिए, भाई चाहिए! यह गलत लोगों ने तुम्हारे दिमाग में गलत शिक्षा भर दी है कि "प्यार तो कुदरती होता है, कि प्यार तो प्राकृतिक होता है, कि प्यार तो जानवर भी जानते हैं।" यह मूर्खता की

बात है जो तुम्हें सिखा दी गई है। तुमसे बोल दिया गया है कि "प्यार तो एक छोटे बच्चे से सीखो!" यह पागलपन की बात है। छोटा बच्चा "मोह" जानता है, छोटा बच्चा "ममता" जानता है, छोटा बच्चा "आसक्ति" जानता है, "प्रेम" नहीं जानता; प्रेम सीखना पड़ता है।

मनुष्य अकेला प्राणी है जो प्रेम जानता है। तुम बेकार की बात कर रहे हो अगर तुम कह रहे हो कि प्रेम जानवर भी समझते हैं। नहीं, जानवर प्रेम नहीं समझते, जानवर सुरक्षा समझते हैं। तुम कहोगे, "नहीं, मेरे घर में मेरा टॉमी है, वह मुझसे बहुत प्यार करता है"। तुम उसे रोटी डालते हो इसलिए तुम्हें प्यार करता है। कुत्ता है इसलिए प्यार करता है। कुत्ते पहले भेड़िए हुआ करते थे, फिर इंसान के साथ रहने लगे, उनके जींस ही ऐसे हो गए हैं कि उन्हें अब इंसान के साथ ही रहना है। वह तुम्हें देखेगा तो दुम हिलाएगा। क्योंकि प्रकृति ने उसे समझा दिया है कि उसकी ज़िंदगी ही इस बात पर निर्भर करती है कि मनुष्य उसे रोटी डालेगा या नहीं डालेगा। भेड़िया तुम्हें देखकर दुम हिलाता है क्या? और पड़ोसी का कुत्ता तुम्हें देखकर प्यार से तुम्हारी गोद में आ जाता है क्या? तब तो भगते हो बहुत ज़ोर से। कहते हो "बुलडॉग!" और अपने वाले को कहते हो, "यह तो बहुत प्यारा है मेरा। आजा!" और वह आ भी जाता है और तुम्हारा मुँह चाटने लगता है तो तुम कहते हो, "देखो, जानवरों को प्रेम पता है"। जानवर तुम्हारे पास इसलिए आता है क्योंकि प्रकृति उससे ऐसा करवाती है। उस चीज़ में भी सौंदर्य है, मैं मना नहीं कर रहा हूँ। चिड़िया का एक जोड़ा साथ बैठा हुआ है, आवाज़ें कर रहा है, और उसकी आवाज़ें गीत जैसी सुनाई पड़ रही हैं, उसमें सुंदरता है निश्चित रूप से है, पर वो प्रेम नहीं है।

प्रेम तो मूलतः आध्यात्मिक होता है। प्रेम करने की योग्यता तो सिर्फ उसकी है जो मन को समझ गया हो, जो मन की बेचैनी को जान गया हो। मन की बेचैनी का चैन के प्रति खिंचाव ही प्रेम है। इसके अलावा प्रेम की कोई परिभाषा नहीं है।

"आचार्य जी, देखिए, आप गलती कर गए न, आपने प्रेम की परिभाषा दे दी। अरे! हमसे पूछिए न, हम आठवीं क्लास के लौंडे हैं लेकिन हम आपको बताए देते हैं कि इश्क वो है जिसे लफ्ज़ों में बयान नहीं किया जा सकता और यह हमें फिल्मों ने और शायरों ने बताया है।" तुम भी मूर्ख! तुम्हारी फिल्में भी मूर्ख! तुम्हारे शायर भी मूर्ख!

बेचैन हो न? चैन माँग रहे हो न? मन पर यही जो लगातार आकर्षण छाया हुआ है कि कहीं पहुँचकर शांति मिल जाए, इसको ही प्रेम कहते हैं। तो प्रेम सार्थक तब हुआ जब आप उस दिशा जाएँ जहाँ वास्तव में शांति मिलती हो। लेकिन प्रकृति और जो प्राकृतिक खिंचाव होता है, जिसको आप प्राकृतिक प्रेम बोल देते हैं, उसका ऐसा कोई इरादा नहीं होता कि आपको शांति मिले। अंतर समझना। प्राकृतिक खिंचाव का नतीजा सिर्फ एक हो सकता है—संतान, और आध्यात्मिक खिंचाव का नतीजा होती है—शांति। इसलिए प्राकृतिक

खिंचाव सदा पुरुष का स्त्री से, स्त्री का पुरुष से होता है, कुछ अपवादों को छोड़ दें तो। क्योंकि प्राकृतिक खिंचाव है ही इसीलिए कि या तो रोटी मिल जाए या घर मिल जाए, सुरक्षा मिल जाए या सेक्स मिल जाए—संतान पैदा हो जाए। प्राकृतिक खिंचाव इन वजहों से होता है।

आध्यात्मिक खिंचाव किसलिए होता है? उसकी सिर्फ एक वजह होती है: शांति मिल जाए। तो जिसको कह देते हो न, "अरे, मैं तो कुदरती तौर पर उसकी ओर आकर्षित हूँ" या कि, "देखो, प्रेम तो प्राकृतिक होता है, सब जीवों में होता है"। वो जो प्रेम है, वह प्रेम की बड़ी छोटी परिभाषा है। छोटी भी नहीं, मैं उसको गलत परिभाषा बोलता हूँ। उसे प्रेम कहना ही नहीं चाहिए, वह बस ऐसे ही है, कुछ भी! प्रेम करने के लिए पात्रता चाहिए। प्रेम करने के लिए ऐसी आँखें चाहिए जो दूसरे को कम और खुद को ज़्यादा देखें। तुम्हारी आँखें जाकर दूसरे से ही चिपक गई हैं तो यह प्रेम की निशानी नहीं है, यह तुम्हारे पशु होने की निशानी है। पशु के पास कोई पात्रता नहीं होती, पशु के पास यह काबिलियत ही नहीं होती कि वह खुद को देख सके कि मेरे भीतर चल क्या रहा है? इस खोपड़ी में चल क्या रहा है वास्तव में? इंसान होने की विशिष्टता यह है कि तुम खुद को देख सकते हो, समझ सकते हो। जब तुम खुद को देखोगे, जब तुमको अपने भीतर की गड़बड़ का कारण समझ में आएगा, जब तुम्हें अपनी बेचैनी का सबब समझ में आएगा, तभी तो तुम खिंचोगे न समाधान की ओर और चैन की ओर? समाधान की ओर खिंचना, चैन की ओर बढ़ना, यह प्रेम है।

"जा मारग साहब मिलें, प्रेम कहावे सोय"

कितनी सीधी परिभाषा दे दी संतों ने:

प्रेम-प्रेम सब कहे, प्रेम न जाने कोय।
जा मारग साहब मिलें, प्रेम कहावे सोय।

पता करना हो कि तुम्हें जो अनुभव हो रहा है अभी, वह प्रेम का ही है या किसी और चीज़ का, तो ऐसे जाँच लेना कि जिस रास्ते पर तुम्हें, तुम्हारा यह प्रेम खींच रहा है, उस रास्ते पर तुम्हें साहब मिलेंगे या कोई और मिलेंगी? ये देख लो। साहब समझ रहे हो न कौन? "मुक्ति" की स्थिति को साहब कह दिया है यहाँ। "शांति" को "साहब" कह दिया।

हम तो प्रेम के नाम पर बंधन और पकड़ लेते हैं और जानने वाले समझा गए हैं कि प्रेम माने उधर को बढ़ना जिधर आज़ादी मिलती हो। जिसके साथ रहने से आज़ादी मिल जाए बस

वही प्रेम के काबिल है। जिसके साथ रहने से बंधन बढ़ते हों, जान लेना वहाँ खतरा है।

अब पूछ रहे हो कि, "हम पति-पत्नी हैं, टीवी पर इकट्ठे बैठकर आपकी बात सुनते हैं", तो फिर एक दूसरे को वही दो जो प्रेम का धर्म है। प्रेम का धर्म है खुद आज़ाद रहना और दूसरे को आज़ादी देना। खुद शांत रहना और दूसरे को शांति देना। तुम अगर कहो कि तुम्हें किसी से प्रेम है और तुम उसकी जिंदगी में दिन रात चकल्लस भर दो तो तुम प्रेमी नहीं हो, दुश्मन हो। लेकिन ज़्यादातर यही होता है प्रेम के नाम पर। आप अगर अपने चित्त को परखेंगे तो बड़े खेद की बात है कि आपको पता चलेगा कि आपको आपके दुश्मनों से कम तनाव रहता है, आपका ज़्यादा सर-दर्द आपके चाहने वालों की वजह से है। बोलिए यह बात सही है या नहीं? आपको आपके दुश्मन तो क्या ही तनाव देते होंगे, उनकी बहुत हैसियत ही नहीं, दुश्मन तो दूर बैठा है। यह जो हमारे प्रेमी जन हैं, स्वजन हैं, इन्होंने ही खोपड़ी खा रखी होती है। हाँ या न? तो यह प्रेम की निशानी नहीं है।

लेकिन हम कहते हैं, "यही तो प्यार की बात है न? सारा कूड़ा और किसपर डालेंगे?" इंतजार करते हैं दिनभर कि वह लौटकर आए, और लौटा नहीं कि दिनभर का जितना कूड़ा था डाल दिया उसके सर पर। इसी तरह से साहब जी बाहर थे, तो बाहर तो हिम्मत है नहीं कि अपना सारा कूड़ा-कचरा, ज़हर किसी पर उलट दें, तो घर आते हैं वहाँ पत्नी मिल गई, बच्चे मिल गए, उनपर उलट दिया। प्रेम के नाम पर यह सब चलता है। देखते नहीं हो? कोई अजनबी हो, उससे तो ढंग से बात कर लेते हो, कितना मुस्कुराकर बात करोगे, करोगे कि नहीं करोगे? और सब गाली-गलौज, फूहड़पना किसके लिए आरक्षित रहता है? जिनको "अपना" कहते हो। अनजान लोगों के सामने तो हमारी छवि अच्छी ही रहती है न? हमारी असलियत क्या है हमारे अपने ही जानते हैं। सारी नंगई हमारी वहाँ दिखाई देती है। और इसी को तो हम प्यार कहते हैं कि, "भाई, दूसरों के साथ तो औपचारिकता है न, फॉर्मेलिटी, तो उनके साथ हम अपना असली रूप थोड़े ही दिखा सकते हैं। असली रूप तो तुम्हारे सामने ही दिखाएँगे न?" "हाँ, असली रूप दिखा दो लेकिन तुम्हारा असली रूप इतना भयानक क्यों है? असली रूप हमें ज़रूर दिखाओ श्रीमान जी, लेकिन यह तो बताओ कि असली रूप इतना भयावह क्यों है? तुम असलियत में ऐसे हो क्या?" लेकिन इसको हम प्रेम कहते हैं। सब कचरा जिसपर डाल सको, उसको तुम कह देते हो कि मेरा प्रेमी है। है न?

ये जो इतनी बातें होती हैं घंटों-घंटों। इन बातों में क्या एक दूसरे को अमृत पिला रहे होते हो? सब प्रेमियों की निशानी है दो-दो, चार-चार घंटे लगे हुए हैं फोन पर और फोन पर नहीं तो आमने सामने बैठकर एक दूसरे का भेजा चबा रहे हैं। और मजाल है कि उधर से कचरा

फेंका जा रहा हो और इधर से तुम फोन काट दो—बेवफा कहलाओगे। और कितना मज़ा आता है! पता होता है कि हम यहाँ से बेवकूफी की बातें पेले जा रहे हैं, पेले जा रहे हैं, और सामने एक मजबूर इंसान उसको झेले जा रहा है, झेले जा रहा है। फिर कोई आएगा अचानक से और कहेगा, "ओ पत्थर दिल इंसान, तू नहीं समझेगा इस पेलने और झेलने का नाम ही तो इश्क है"। मैं पत्थर दिल ही सही, मैं बहुत खुश किस्मत हूँ अगर मुझे ये बात समझ नहीं आती और इतना ही आपसे विनती कर सकता हूँ—न पेलो, न झेलो। इसी बात को हमारे बड़े लोग बोल गए थे: "न दैन्यम न पलायनम"। सरल करके बता दिया मैंने। क्या? "न पेलो, न झेलो"। आ रही है बात समझ में?

कोई तुम्हारा अब प्रेमी बन गया है, उससे अब तुम एक रिश्ते में आ गए हो या किसी से तुम्हारी शादी हो गयी है, तुम उसके पति या पत्नी कहलाते हो, इसका मतलब ये नहीं है कि तुम उसके सामने बिलकुल अब बेहूदगी का नंगा नाच नाचो। सबको झटका लगता है। चाहे आयोजित विवाह हो या प्रेम विवाह हो। शादी के बाद जो रूप देखने को मिलता है, झटका सबको लग जाता है। कहते हैं, "ये तो तुमने पहले दिखाया ही नहीं था!" तो उधर से उत्तर आता है, "सरप्राइज़! कुछ तो बचाकर रखना था न बाद में दिखाने के लिए। तो अब ये रूप देखो हमारा। तुम्हें पता है हमारे दो और भी दाँत थे जो छुपे रहते थे। फिर वो दो दाँत निकलते हैं ऐसे *(हाथों से इशारा करते हुए)* ।" ये प्रेम की निशानी नहीं है। अगर आत्मीयता का मतलब ये है कि दूसरे के बाल नोचने हैं, गाली-गलौच करनी है या सर फोड़ना है तो बेगानापन बेहतर है, थोड़ी औपचारिकता, थोड़ी फॉर्मेलिटी ही बेहतर है। प्रेम का मतलब ये है कि तू-तड़ाक करनी है तो फिर थोड़ा बेगानापन ही सही है; "आप" नहीं तो "तुम" ही बोल लो। कोई कह रहा था या जाने मैंने कहीं देखा कि लड़का-लड़की जान जाते हैं कि अब वो प्रेमी-प्रेमिका नहीं रहे, पति-पत्नी हो गए हैं जब वो एक-दूसरे से बद्तमीज़ी करने लगते हैं। पति-पत्नी हो जाने की निशानी ही यही है कि अब आपको एक दूसरे से बदतमीज़ी, बेहूदगी करने का अधिकार मिल गया। जब तक प्रेमी-प्रेमिका हो तब तक फिर भी थोड़ा लिहाज़ रहता है। और लिहाज़ इस नाते रहता है कि बेहूदगी करी तो कहीं अगला छोड़कर न चला जाए हमें। पर जब बिलकुल पक्का हो जाता है कि अब ये कहीं छोड़कर नहीं भागने वाला, मुर्गा बिलकुल फँस ही गया है पिंजड़े में, तो बदतमीजियाँ शुरू होती हैं। और कहा जाता है, "उसी से तो करेंगे जो हमारा अपना है! अपनी चीज़ ही तो तोड़ी जाती है।" ये मत करना!

दो तरह के प्रेम होते हैं: एक वो जिसमें प्रेम का मतलब होता है कि अब तुम दूसरे को अपना सबसे निकृष्टतम और घृणास्पद रूप दिखा सकते हो, ये आमतौर का प्रेम है। जिसमें प्रेम का मतलब होता है कि अब तुम दूसरे के सामने अपना सबसे कुत्सित, सबसे नंगा,

सबसे विकृत रूप दिखा सकते हो, खुलकर के, बिना किसी झिझक के, ये साधारण प्रेम है। और एक दूसरा प्रेम है जिसमें तुम अपने ऊपर ये ज़िम्मेदारी रखते हो, इस बात को अपना धर्म मानते हो कि अगर प्यार करता हूँ तो दूसरे को अपना सबसे ऊँचा रूप ही दिखाऊँगा। इन दो तरीकों के प्रेमों में से कौनसा करना है ये चुन लीजिए। बड़ी ज़िम्मेदारी है प्यार! जिससे प्यार करो उसे ऊँचाई की तरफ़ ले जाओ। जिससे प्यार करो उसको वो तक देने की कोशिश करो जो देने की तुम में साधारणतया काबिलीयत भी नहीं है।
खुद भी साहब तक जाना है और दूसरे को भी पहुँचाना है, यही प्रेम है। हक़ भर नहीं जमाना है, घमासान ही नहीं मचाना है, साहब तक पहुँचाना है।

प्रश्नकर्ता: प्रेम का मतलब एक दूसरे की बात मानें? जिसको प्रेम करें उसकी बात मानें, इसका ये मतलब हुआ क्या?

आचार्य प्रशांत: ये बोला क्या मैंने इतनी देर से? क्या कर रहे हो?

प्रश्नकर्ता: मतलब हम आपसे प्यार करते हैं तो आपकी बात मानें, ऐसा हुआ न?

आचार्य प्रशांत: ये तुम मुझसे सवाल कर रहे हो कि देवी जी को सुना रहे हो? कहीं वो बार-बार तुमसे आग्रह करती हों कि, "देखो, मुझसे प्यार करते हो तो मेरी बात मानो न!" तो सामने बैठी हैं और उनके कंधे पर रखकर चला दिया तुमने। नहीं तो आपके प्रश्न का मेरी कही गई बात से कोई संबंध ही नहीं है। इतनी देर में क्या मैंने ज़रा भी ऐसा इशारा भी दिया कि दूसरे की बात मानने का नाम प्रेम है? ऐसा कहा क्या?
तुम उसकी बात मानो और वह तुम्हारी बात माने, दोनों की बातें आपस में मिलती नहीं, तो ले दनादन दे दनादन। तुम अपनी बात आज तक मान पाए खुद? सुबह पाँच बजे उठना है—यह तुम्हारी अपनी ही बात हो—दौड़ लगानी है, कसरत करनी है, अपनी ही बात मान पाते हो? करीब साल भर हो गया जब पहले शिविर में आए थे। तब से अब तक जो मैंने बातें कहीं वह मान लीं?

प्रश्नकर्ता: सुधार आया है।

आचार्य प्रशांत: सवाल ऐसे पूछ रहे हो और कह रहे हो सुधार आया है!
इस ग़लतफ़हमी में कोई न रहे कि दूसरे की बातें मानने का नाम प्रेम है। इस ग़लतफ़हमी में कोई न रहे कि अगर कोई तुमसे प्यार करता है तो तुम्हारी बातें वगैरह मानेगा या तुम्हारी इच्छाएँ पूरी करेगा। यह बड़ी से बड़ी ग़लतफ़हमी है। घातक! हम सोचते यही हैं कि, "तू तो

मुझसे प्यार करता है न तो तू तो मेरी सारी हसरत-चाहत पूरी कर। तुझसे तो जो मैं कहूँ तुझे मानना पड़ेगा।" "तुम दिन को अगर रात कहो तो हम रात कहेंगे"। कतई मोटी हो रही हो और वो सामने आकर पूछे, "सोनू, मैं मोटी हो रही हूँ क्या?" "नहीं! तुम तो सूख के कांटा हो गयी हो।" दूसरे की बात नहीं माननी है। दूसरे तक "सच" की बात पहुँचानी है। अब उसमें दिल दुखता हो तो दुखे, घाटा होता हो तो हो।

दमदार आदमी चाहिए सच बोलने के लिए और बड़ा प्रेमपूर्ण आदमी चाहिए सच बोलने के लिए। दूसरे की हाँ में हाँ मिला करके, दूसरे को धोखा दे देना तो बहुत आसान है। है कि नहीं? कोई आया आपके पास कोई मुद्दा लेकर के और आपने कहा, "हाँ, बिलकुल बिलकुल बिलकुल!" आया आपके पास कोई और कहे, "आपको पता है वह जो बगल की है न मिसेज गुप्ता, बड़ी डायन है।" और आप बोलो, "बिलकुल! बिलकुल! डायन है।" "मुझसे उसकी बिलकुल नहीं पटती" "हाँ हाँ, बिलकुल वही डायन है" यह तुम भला कर रहे हो अपने चाहने वाले का? लेकिन इसमें आसानी बहुत है। तुम अपना काम करते जाओ और उधर से जो आवाज़ आ रही है तुम उससे हाँ में हाँ मिलाते जाओ। कोई दुविधा नहीं, कोई तकलीफ़ नहीं होगी। लेकिन यहीं तुम कह दो कि, "मेरी बात सुनो भाई! यह जो लड़ाई होती है न तुम्हारी और गुप्ता जी की, उसमें मुझे लगता है दोष दोनों तरफ से है।" तो जैसे ही यह कहोगे, वैसे ही अब तुम्हारे लिए झंझट खड़ा हो जाएगा। क्योंकि तुमने इधर का भी दोष बता दिया, अपनी तरफ का भी।

प्रेम होता है न तब आदमी यह झंझट बर्दाश्त करने को तैयार होता है। तब आदमी कहता है, "झंझट खड़ा हो तो हो। बोलूँगा तो मैं सच ही। मुझे मालूम है मैंने सच बोला नहीं कि मेरे ही घर में बवंडर खड़ा हो जाएगा लेकिन फिर भी बोलूँगा तो मैं सच ही। सच इसलिए नहीं बोलूँगा कि मेरा अहंकार है, सच इसलिए बोलूँगा क्योंकि तुझसे प्यार है।" लेकिन जब भी तुम सच बोलोगे उसको माना ऐसे ही जाएगा कि, "बड़े अहंकारी आदमी हैं। मेरा दिल दुखाते रहते हैं! मैंने तो थोड़ी सी बात कही थी कि मेरी और गुप्ता की लड़ाई में गलती हमेशा गुप्ता की होती है। यह मेरी इतनी सी बात में भी राज़ी नहीं हो पाए, तुरंत मेरा ही दोष निकाल दिया। बोले, 'जब तुम्हारी और मिसेज गुप्ता की लड़ाई होती है तो दोष दोनों तरफ से होता है'। यह बहुत अहंकारी आदमी है इसको तो बहुत मज़ा आता है मेरी खोट निकालने में।" यह बात अहंकार की नहीं प्यार की है। तुमसे ज़रा कम प्यार करते तो तुम्हारी खोट नहीं निकालते। तुमसे अगर हम ज़रा भी कम प्यार करते तो तुम्हारे दोष तुमको नहीं बताते। बात-बात में तुम्हारे दोष बताते हैं, तुम्हारे दोष बता-बता कर तुम्हारी ही नज़रों में खुद बुरे बन जाते हैं क्योंकि प्यार करते हैं तुमसे।

११. निर्णय के लिए दूसरों पर निर्भरता

आचार्य प्रशांत: सवाल है कि अपने निर्णय खुद नहीं ले पाते और दूसरों पर बड़ा आश्रित रहते हैं इस कारण। कितने लोग ऐसे हैं जिनकी यही कहानी है कि अपने निर्णयों के लिए दूसरों पर बड़ा निर्भर रहना पड़ता है?

यह हम सब की कहानी है। अब जो कहूँगा उसको सुनना ध्यान से क्योंकि वह रटी-रटाई बात नहीं होगी जो तुमने बहुधा सुन रखी होगी। जब तक तुम्हें निर्णय लेने 'पड़' रहे हैं, तुम्हें दूसरों पर आश्रित होना ही पड़ेगा। जब तक तुम्हें निर्णय लेने 'पड़' रहे हैं, तुम्हें दूसरों का सहारा लेना ही पड़ेगा।

निर्णय का अर्थ है कि बहुत सारे विकल्प हैं। निर्णय तभी करते हो न जब कई विकल्प हों? निर्णय का अर्थ ही है उन विकल्पों में मुझे सूझ ही नहीं रहा कि मेरे लिए उचित क्या है और मैं फंस गया हूँ। कई राहें खुल रही हैं और उन राहों में से मुझे किधर जाना है? मैं जान नहीं रहा। अब मुझे आवश्यकता पड़ रही है निर्णय लेने की।
जहाँ कहीं भी निर्णय लेने की आवश्यकता है वहाँ पर एक ऐसा निर्णयकर्ता खड़ा होगा, डिसिज़न मेकर खड़ा होगा जो कहेगा कि मुझे अब निर्णय लेना है। डिसीज़न मेकिंग अगर होगी तो डिसीज़न मेकर भी होगा न? अब मुझे बताओ कि डिसीज़न मेकर कौन है? यह जो निर्णयता है यह कौन है?

प्रश्नकर्ता: माइंड।

आचार्य प्रशांत: माइंड किसका?

प्रश्नकर्ता: हमारा माइंड।

आचार्य प्रशांत: अब इतनी एच.आई.डी.पी. *(संस्था का एक कोर्स)* कर ली है, अब मुझे बताओ कि जिसे तुम अपना माइंड कहते हो, अपना मन कहते हो, यह कैसे बना है? हमारा मन कहाँ से आता है?

प्रश्नकर्ता: पास्ट से।

आचार्य प्रशांत: पास्ट से आता है। मन जो है हमारा वो या तो दूसरों से आता है, दूसरे जो अलग व्यक्ति और अलग वस्तुएँ हैं या विचार बाहर के या हमारे भीतर से आता है।
मन टाइम और स्पेस है। टाइम का अर्थ हुआ "अतीत"। तो या तो अपने ही अतीत को दोहराता रहता है य जो स्पेस में दूसरे व्यक्ति हैं उनसे कुछ-कुछ लेता रहता है।
'मन' में 'मेरा' कुछ होता ही नहीं। यह बात बहुत दूर तक जाती है, इसको अच्छे से समझ लेना। जिसको तुम कहते हो न 'मेरा' मन, इस मेरे मन में सही बात तो ये है कि 'मेरा' कुछ होता ही नहीं। मेरे मन में सिर्फ़ दूसरों के और अतीत के प्रभाव भरे हुए हैं। ये माइंड क्या है? एक भीड़ जिसमें दूसरे बैठे हुए हैं या मैं भी बैठा हुआ हूँ तो मेरा अतीत बैठा हुआ है। ये मन जब निर्णय कर रहा है तो निर्णय वास्तव में कौन कर रहा है?

प्रश्नकर्ता: दूसरे।

आचार्य प्रशांत: यानी जब भी तुम निर्णय कर रहे हो, निर्णय कर कौन रहा है?

प्रश्नकर्ता: दूसरे।

आचार्य प्रशांत: क्योंकि निर्णय कहाँ से निकल रहा है? मन से। और मन में कौन हैं?

प्रश्नकर्ता: दूसरे।

आचार्य प्रशांत: जब भी निर्णय होगा, वो निर्णय करने वाले तो दूसरे ही होंगे।
भ्रम हमें ये हो जाता है कि 'हमने' करा। और यही नहीं होता, हम बड़ी ठसक के साथ खड़े हो जाते हैं कि, "ये मेरा निर्णय है और मैं इसपर कायम रहूँगा"।

कायम रहो महाराज! अगर तुम्हारा हो! तुम्हारा है ही नहीं तो तुम्हारे कायम रहने का क्या मोल? जिसे तुम 'अपना' कहते हो, वो मन ही दूसरों का है।

ये एक बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है जो हर जवान आदमी को अपनेआप से पूछना चाहिए:

मेरे मन में “मैं” कितना हूँ—“शुद्ध मैं”—कोई घपलेबाज़ी नहीं, मिलावट नहीं—“विशुद्ध मैं”? “मेरे” मन में जितनी तहकीकात करोगे, पाओगे “मेरे” मन में “मैं” नहीं हूँ और मेरे अलावा पूरी दुनिया है—चचा, ताऊ, दुनिया भर के धर्म ग्रंथ, शिक्षा, टीवी, मीडिया, अखबार, पॉलिटिक्स सबकुछ है—“मैं” ही नहीं हूँ। अपनी आवाज़ को ध्यान से सुनोगे तो पाओगे पता नहीं कितने लोगों की आवाज़ है, पूरी एक भीड़ की आवाज़ है, उसमें बस तुम्हारी आवाज़ नहीं है। तो ऐसे में तुम जो निर्णय करोगे भी वो तुम्हारा होता कहाँ है?

तुम देखो न तुम निर्णय कैसे करते हो। अब तुम्हारी एक ख़ास वय है इसलिए कुछ सालों में तुम भी वो निर्णय कर रहे होगे—शादी का निर्णय। अब जैसे-जैसे दुनिया कनेक्टेड होती जा रही है वैसे-वैसे अब शादी होती है इंटरनेट पोर्टल के माध्यम से। अभी शादी डॉट कॉम आया हुआ है। तुम वहाँ पर जाते हो और तुमसे पहले ही एक पूरा फ़ॉर्म भरवा लिया जाता है जिसमें पूछ लेते हैं तुम्हे कैसा लड़का या लड़की चाहिए। और तुम सबकुछ उसमें लिख देते हो—क्या धर्म हो, क्या जात हो, क्या गोत्र हो, कितनी ऊंचाई हो , कितनी शैक्षणिक योग्यता हो, कितना कमाता हो, किस रंग का हो, कहाँ बसा हुआ हो, सयुंक्त परिवार में रहता है या न्यूक्लियर फैमिली इत्यादि। ये सारी बातें तुम पहले ही बोल देते हो। अब तुम ये बताओ कि किस धर्म में तुम पैदा हुए हो, क्या यह निर्णय तुम्हारा था? और जिस धर्म में तुम पैदा हुए हो, उसी धर्म का पति या पत्नी चाहिए तुम्हें। तो पति या पत्नी भी तुम जिन आधारों पर चुन रहे हो, वह निर्णय क्या तुम्हारे हुए? अपना गोत्र क्या तुमने चुना था? तो अपनी पत्नी भी तुम फिर कहाँ चुन रहे हो? जिसने तुम्हारा गोत्र तुम्हें दिया, वही तुम्हारी पत्नी भी तुम्हें दे रहा है। तुम में से कितनों ने चुना था कि मैं इसी पुण्य भूमि में क्षत्रिय बनकर पैदा होऊँगा? पर आज तुम्हारे सारे निर्णय उसी पर आधारित हैं कि “मैं एक भारतीय हूँ और मैं फलाने धर्म का हूँ”। तो जिसको तुम “अपना” निर्णय बोलते हो, वह सदा बाहरी ही होगा।
तुमने बहुत अच्छा करा है कि तुमने इस बात को पकड़ तो लिया कि “मैं आश्रित हूँ”। हम में से ज्यादातर लोग अपनी पूरी ज़िंदगी बिता देते हैं यह सोचते हुए कि मैं अपने निर्णय खुद लेता हूँ और उन्हें बड़ा गर्व रहता है। “बेटा, हमारे जैसे बनना! हमने हमेशा हमारे निर्णय खुद लिए।” उन्हें पता भी नहीं है कि वह कितने परावलंबित थे। तो तुम बहुत अच्छी जगह पर खड़ी हो कि तुम्हें यह दिख तो रहा है कि तुम आश्रित हो। ज़्यादातर लोगों को तो दिखता भी नहीं।

अब इसका क्या यह अर्थ है कि हमारी किस्मत ही है दूसरों पर आश्रित रहना? क्या मैंने तुमसे यह कहा? अभी तक को सुनकर के तुम्हें यह शक हो सकता है कि शायद मैं यही कह रहा हूँ कि “आदमी की विडंबना है यह कि वह अपना जीवन बैसाखियों पर गुजारेगा और उसके सारे निर्णय उसके होंगे ही नहीं”—नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ ये।
मैं कह रहा हूँ: जब तक निर्णय रहेगा तब तक आश्रित रहोगे। तुम निर्णय को खत्म ही क्यों नहीं कर देते? निर्णय को खत्म करो! जहाँ गया तुम्हारा निर्णय, वहीं गई तुम्हारी निर्भरता। जहाँ निर्णय खत्म हुआ वहाँ तुम्हारी निर्भरता भी खत्म हुई।

और निर्णय खत्म करने का तरीका क्या है? अभी बताता हूँ, बड़ा मजा आएगा! निर्णय हमेशा थोड़ा समय लेता है क्योंकि निर्णय “मन” करता है। और मन समय लगाता है विचार करने में—कभी बहुत समय लगा देता है, कई लोग सालों लगा देते हैं निर्णय करने में, और कई लोग दो चार सेकेंड लगा देते हैं, पर समय ज़रूर लगेगा ध्यान देना। तुम समय लो ही मत, तुम तो तत्काल में जीयो। उदाहरण ले लो अभी—उदाहरण नहीं, मैं प्रयोग करके दिखाता हूँ। अभी मुझे सुन रहे हो तो क्या निर्णय कर-कर के सुन रहे हो? नहीं। उपस्थिति पूरी है पर निर्णय नहीं है। न निर्णय है न निर्णय करने वाला है। तुम हो, मन नहीं है। तुम हो पूरे तरीके से यहाँ पर, पर मन नहीं है। मन पूरी गठरी है—विचारों की, अतीत की, दूसरों की—वह तुम कहीं छोड़ आए, वह गायब ही हो गई। तुम्हारी अभी पूरी उपस्थिति है। काश कि तुम्हारे चेहरे अभी रिकॉर्ड हो सकते। तुम यहाँ पूरी तरह मौजूद हो अभी और वह मन जो है ही बंधा हुआ, जो है ही गुलाम, वो मन अभी है ही नहीं। और अभी जिसका मन यहाँ पर है, वो कुछ समझ ही नहीं पा रहा होगा।

(प्रश्नकर्ता एक सवाल पूछते हैं)

आचार्य प्रशांत: कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनके निर्णय लिए नहीं जाते, वो अपनेआप हो जाती हैं, बिना निर्णय लिए। समझो, उदाहरण दे रहा हूँ: तुमको कंप्यूटर का सॉफ्टवेयर लिखना बहुत पसंद है। इस पसंद का तुम निर्णय नहीं ले सकते। ये पसंद एक तरह का प्रेम है। ये अपनेआप होता है। ये अनिर्णित होता है। उसके बाद ये निर्णय लेना नहीं पड़ता कि “मैं कंप्यूटर साइंस में इंजिनीरिंग करूँगी”। अब तो ज़ाहिर सी बात है। “हाँ, मुझे दिख गया मुझे सॉफ्टवेयर लिखने से प्रेम है बड़ा, आनंद आता है”, तो इसमें अब निर्णय क्या करना है कि इंजिनीरिंग करनी है? अब तो करनी ही है न? और कोई रास्ता कहाँ है? और अब अगर और कोई रास्ता है तो दबाव का रास्ता है। दूसरे मुझे बाध्य कर रहे होंगे। नहीं तो अब निर्णय क्या लेना है? तुम्हें प्रेम हो जाता है, प्रेम में कोई निर्णय नहीं होता, हाँ, शादी में निर्णय होता है। या प्रेम भी निर्णय कर-कर के करते हो? प्रेम निर्णय कर-कर के किया जाता है?

(प्रश्नकर्ता सवाल पूछते हैं)

आचार्य प्रशांत: नहीं, क्योंकि इंटरेस्ट यानि रुचि और प्रेम दो बहुत अलग-अलग बातें हैं। हम प्रेम नहीं जानते, हम रुचियाँ जानते हैं। और रुचियाँ तो बाहर से ही आती हैं। तुम भारत में पैदा हुए हो, क्या संभावना है कि तुम्हारी आइस हॉकी में रुचि होगी? और क्या संभावना है कि तुम्हारी क्रिकेट में रुचि होगी? बोलो? यहाँ बैठे हो सब, तुम में से नब्बे प्रतिशत लोगों की रुचि क्रिकेट में होगी पक्का। ये रुचि तुम्हारा चुनाव है या सिर्फ़ परिस्थितियों ने तुम्हें दे दी हैं कि भारत में पैदा हुए हो तो तुम्हारी क्रिकेट में रुचि होगी ही? क्या क्रिकेट में रुचि होती अगर ब्राज़ील में पैदा होते? यदि ब्राज़ील में पैदा होते तो किसमें रूचि होती?

प्रश्नकर्ता: फुटबॉल में।

आचार्य प्रशांत: मैं रुचियों की बात नहीं कर रहा। मैं ये नहीं कह रहा कि डॉक्टर के घर में पैदा हुए और बचपन से ही मरीजों को देखा और डॉक्टरी के औज़ार देखे तो डॉक्टरी में रुचि हो गई। मैं उसकी बात नहीं कर रहा हूँ। मैं किसी बहुत आगे की चीज़ की बात कर रहा हूँ।

(प्रश्नकर्ता सवाल पूछते हैं)

आचार्य प्रशांत: मैंने जो करा उसको छोड़ो, वो पुरानी बात है। उसकी ओर ध्यान मत दो। अभी जो कह रहा हूँ उसको समझो! तुम तो फिर ये भी सवाल करोगे कि जब आप पाँच साल के थे तो आपने अमरूद चुराकर खाया था तो ये प्रेम था या रुचि थी? कितना पीछे जाओगे? तो उसको छोड़ो! बात गयी। ठीक है?
तुम लोगों के साथ एक समस्या ये भी है कि तुमको व्यक्तित्व में बड़ी रुचि रहती है। व्यक्ति सामने बैठा है तुम उसको नहीं सुन रहे हो, व्यक्तित्व में रुचि है। व्यक्तित्व का मतलब है उसका पूरा अतीत।

उसको छोड़ो!

तुम्हारे सामने मेरा अतीत नहीं बैठा है, मैं बैठा हूँ। मुझे देखो। तो निर्णय जितने कम लो उतना अच्छा है। हम निर्णय इसलिए लेते हैं क्योंकि निर्णय हमें सुरक्षा देते हैं। हमें बचपन से ही बताया गया है सोच-विचार के काम करो।

“बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताए”

तो हमें उसमें बहुत सुरक्षा की भावना आती है कि पछताना न पड़े, कोई चूक न हो जाए। लेकिन हम उस बात को कभी समझे ही नहीं। कहने वाले ने ही दस और बातें कहीं हैं, वो तुम्हे कभी बताई नहीं गयीं। हमें एक अधूरी-सी बात बता दी गयी, क्योंकि जिन्होंने बताई वो खुद असुरक्षित महसूस करते थे, वो खुद सुरक्षा के पीछे दौड़ने वाले लोग थे। तो उन्होंने तुम्हे भी एक ऐसा मंत्र दे दिया है जो तुम दोहराए जा रहे हो कि खूब सोचो, खूब विचारो और फिर निर्णय करो।

अब मैं तुमसे दूसरी बात कह रहा हूँ कि जीवन में जो कुछ भी महत्वपूर्ण है वहाँ निर्णय करो ही नहीं। वहाँ तो बस होने दो। वहाँ तो उसमें डूब जाओ और वहाँ जो भी घटना घटती है फिर उसको होने दो! डूब जाओ! उसमें तुम्हें सुरक्षा नहीं मिलेगी। उसमें तुम्हारा मन जो है वो डरेगा, पर मन को डरने दो क्योंकि मन तो है ही डरपोक। तुम डरपोक नहीं हो। मन तो है ही डरपोक, मन को डरने दो! मन तो चाहता है बँधे-बँधाए ढर्रों पर चलना। उसी में वो अच्छा महसूस करता है कि ठीक है सब सेफ है, सब सेफ है। मन को बस उसी सिक्योरिटी की तलाश है। तुम थोड़ा असुरक्षा में भी जीना सीखो।

प्रश्नकर्ता: डर से नकारात्मक विचार आते हैं।
आचार्य प्रशांत: डर से नकारात्मक विचार नहीं आते बेटा; डर अपनेआप में ही एक विचार है। और जैसे हमने कहा था न कि अच्छी आदत और बुरी आदत, वैसे ही उसको नकारात्मक या सकारात्मक का लेबल मत लगाओ। डर अपनेआप में ही एक विचार है। डर विचार के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

एक प्रयोग करो: हम सब अपने मन में पता नहीं क्या-क्या भर के बैठे रहते हैं और हम सब ऐसे ही हैं। इसी क्षण बैठे-बैठे जो तुम बुरे-से-बुरा, अपना सबसे ख़तरनाक ख़याल रखते हो, आँख बंद कर के दो मिनट उसकी कल्पना कर लो और ये कल्पना तुम जानते बूझते कर रहे हो। हम एक प्रयोग कर रहे हैं, जानते बूझते। दो मिनट तुम उसकी कल्पना करो और देखो मन कैसा खट्टा हो जाता है। तुम सिर्फ़ कल्पना कर रहे हो और मन ऐसा दहल जाएगा।

विचार भर है डर, और उस विचार को तुम कैसे भी उठा दो मन की हालत खराब हो जानी है।

प्रश्नकर्ता: जैसे कोई सपना हो।

आचार्य प्रशांत: हाँ, बिल्कुल ठीक। एक बार विचार उठ गया—और वो विचार कट भी ऐसे ही जाता है जब तुम जान जाते हो कि वो क्या है? विचार ही तो है। एक मिनट प्रयोग करो और मन को खट्टा हो जाने दो फिर मन से बोलो "विचार ही तो है"। कुछ है ही नहीं, डर है। कई लोग मुझे लगता है कि ये प्रयोग कर भी चुके हैं और मन को खराब कर भी लिया है। कर लिया कि नहीं कर लिया? जो तुम्हारी सबसे घातक, वीभत्स कल्पना है उसको तुमने एकबार उठने दिया नहीं कि अब जानते-बूझते मन सहम जाएगा—बेरोज़गारी, किसी प्रियजन की मृत्यु, कुछ भी। और मन ऐसा हो जाएगा कि पूछो मत। और तुम उससे पूछो कि "तू कितना पगला है? अरे, मैं प्रयोग कर रहा हूँ तब भी डर गया?" मन कहेगा, "मैं तो ऐसा ही हूँ। मेरी तो फितरत ही ऐसी है, मैं करूँ क्या? मैं विचारों में ही जीता हूँ। तुमने क्यों उत्तेजित किया विचार? मैं तो विचारों में ही जीता हूँ, और तुमने एक बार विचार उठा दिया तो मैं गया।" और तुम क्या जवाब दोगे? "तू विचारों में जीता है, मैं नहीं जीता। तुझे डरना है तो डर, मैं नहीं डर रहा। तू डर, तुझे जितना डरना है डर, मैं नहीं डर रहा।" उसे डरने दो। उसकी मौज है डरने में तो डरने दो। तुम्हारी तो मौज नहीं है न डरने में। या है? तो छोड़ो उसे।

१२. जो जितना निर्भर दूसरों पर, वो उतना चिंतित अपनी छवि को लेकर

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, किसी बात को कहने में डर रहता है कि दूसरे क्या सोचेंगे।

आचार्य प्रशांत: ठीक है, तो दूसरे जो कुछ भी सोच रहे हैं, वो तो उनकी खोपड़ी में हो रहा है। दूसरों की सोच का जो भी असर हो रहा है वो तो उन्हीं की खोपड़ी पर होगा न? तुम क्यों डर रहे हो?

प्रश्नकर्ता: मैं ये सोचता हूँ कि वो ग़लत न सोचें।

आचार्य प्रशांत: उनकी खोपड़ी के अंदर क्या चल रहा है इससे तुम्हें क्या मतलब है?

प्रश्नकर्ता: अपनी इमेज (छवि) को लेकर डर रहता है कि कहीं वो ग़लत न हो जाए।

आचार्य प्रशांत: अच्छा, इमेज हो गई ग़लत, फ़िर क्या होगा?

प्रश्नकर्ता: इसी चीज़ का डर रहता है।

आचार्य प्रशांत: तो इससे क्या हो जाएगा, तुम्हारा नुक़सान ही क्या है?

प्रश्नकर्ता: नुक़सान तो कुछ नहीं है।

आचार्य प्रशांत: नहीं, नुक़सान होगा, वरना तुम डरते नहीं। तुम चाहते हो दूसरे के मन में तुम्हारी छवि अच्छी बनी रहे, और तुम्हें लगता है जब कि तुम्हारी छवि ख़राब हो रही है तो तुम डर जाते हो—तो निश्चित रूप से छवि के बिगड़ने से तुम्हें कुछ तो नुक़सान दिख रहा है। क्या नुक़सान दिख रहा है? चलो, बताओ।

प्रश्नकर्ता: उस नुक़सान से कहीं असफल न हो जाएँ।

आचार्य प्रशांत: दूसरे के मन में तुम्हारी छवि बिगड़ गई तो तुम असफल कैसे हो गए?

प्रश्नकर्ता: ये सोच रहती है दिमाग में।

आचार्य प्रशांत: नहीं, क्यों रहती है? वो तो स्पष्ट है कि सोच रहती है, हम उसके ज़रा भीतर जाना चाहते हैं कि बात क्या है। बाज़ारों में विज्ञापन होते हैं, हर उत्पाद अपनी अच्छी छवि बनाकर रखना चाहता है ग्राहक के मन में, है न? तो किसी के मन में अपनी अच्छी छवि बनाने की फ़िक्र तुम्हें होती ही कब है? कब डर जाते हो तुम अपनी छवि के ख़राब होने से? बोलो।

प्रश्नकर्ता: ये लालच रहता है कि इनसे कुछ मिलेगा।

आचार्य प्रशांत: या बिकने को तैयार बैठे हो। बिकने को तैयार बैठे हो तो उसके मन में अपनी ऊँची छवि रखना चाहते हो। जितनी तुम्हारी ऊँची छवि होगी, उतने तुम्हारे ऊँचे दाम लगाएगा वो, कि "वाह! क्या चीज़ है। चालीस लाख एक, चालीस लाख दो, चालीस लाख तीन।" जिसको बिकना हो, वही अपनी छवि को लेकर इतना सावधान, इतना व्याकुल रहता है। जो बाज़ारू नहीं है, वो क्यों डरेगा कि उसके बारे में किसने क्या सोचा?

अब ये तो बात दूसरी दिशा में चली गई। जो बिकना चाहता है वो तो दूसरे के मन में अपनी वो छवि बनाना चाहता है जो बिलकुल झूठी है, ठीक? वो तो दूसरे को ठगना चाहता है न? वो अपनी ऊँची-से-ऊँची, सुंदर-से-सुंदर, आकर्षक-से-आकर्षक छवि बनाएगा दूसरे के मन में। अपनेआप को ऐसा प्रस्तुत करेगा जैसा वो है ही नहीं। तो ये तो दूसरे को ठगने की कोशिश हुई। और जब नहीं ठग पाते तो डर जाते हैं कि "अरे, ठगना चाहते थे, ठग नहीं पाए"। ये हमारा डर तो उस चोर का डर है जो सेंध मार रहा है। उसे कोई डराने नहीं आ रहा, वो डरा इस बात से हुआ है कि अगर दूसरे को लूट रहे हैं, ये बात ज़ाहिर हो गई, तो पिटेंगे बहुत। क्या उस चोर को कोई डराने आ रहा है? बोलो।

जब तुम कहीं चोरी करने जाते हो तो डरे होते हो या नहीं? क्या इसका अर्थ ये है कि दूसरा आकर तुमपर अत्याचार कर रहा है और तुम्हें डरा रहा है, भयभीत कर रहा है, शोषण कर रहा है तुम्हारा? चोर से ज़्यादा कोई डरा हुआ नहीं होता—कहीं ऐसा तो नहीं कि चोर ही डरा हुआ होता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि डर द्योतक ही है इस बात का कि तुम दूसरे को ठगना चाहते हो और इसीलिए काँप रहे हो कि कहीं पकड़े न जाएँ?

जब तक दूसरों पर आश्रित रहोगे, जब तक दूसरों से कुछ पाने की उम्मीद रहेगी, तब तक दूसरों के मन में अपनी छवि को लेकर चिंतित भी रहोगे। जो जितना पर-निर्भर है, वो अपनी छवि के लिए उतना ही सतर्क होगा। जिसको दूसरे से जितना ज़्यादा चाहिए, वो

उतना ज़्यादा परेशान हो जाएगा दूसरे के मन में अपनी छवि ख़राब होती देखकर। दूसरे पर निर्भरता, दूसरे पर आश्रयता से उठता है छवि ख़राब होने का डर। कमज़ोरी की बात है, जो जितना कमज़ोर, वो दूसरों पर उतना निर्भर। जो दूसरे पर जितना निर्भर, वो उतना ज़्यादा चाहेगा कि दूसरा उसके बारे में अच्छी-अच्छी बातें ही सोचे।

तुम्हारा तो सब काम ही दूसरे से चलना है, तो तुम्हारे लिए आवश्यक हो गया न कि दूसरा तुमको भला समझे, तुम्हारे बारे में अच्छा सोचे। जिसका काम दूसरों से नहीं चलना, वो इस बात की परवाह क्यों करेगा कि दूसरा उसके बारे में क्या सोच रहा है? तुम्हारा काम दूसरों से क्यों चलता है? बोलो तो। तुम्हारे चेहरे पर दुर्बलता क्यों लिखी हुई है?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, ये बचपन से ही रहा है और अब और ज़्यादा बढ़ गया है।

आचार्य प्रशांत: अब तुम बच्चे नहीं हो, अभी भी तुम दूसरों पर आश्रित क्यों हो? क्या उम्र हो गई तुम्हारी?

प्रश्नकर्ता: २५ साल।

आचार्य प्रशांत: २५ साल का होकर अब दूसरों पर क्या निर्भरता है? मजबूरी क्या है?

प्रश्नकर्ता: कुछ नहीं।

आचार्य प्रशांत: ऐसा तो नहीं है। दूसरों से ले रहे हो कुछ तभी डर रहे हो दूसरों से। क्या मजबूरी है कि दूसरों पर आश्रित हो?

प्रश्नकर्ता: मजबूरी तो ये सोच है कि इज़्ज़त दूसरों से पाना चाहते हैं।

आचार्य प्रशांत: न, हम इज़्ज़त वगैरह के बड़े कदरदान होते ही नहीं हैं। इज़्ज़त से हमें जो मिल रहा होता है, हमें उसकी कामना होती है। दूसरे तुम्हें इज़्ज़त देते हों और इज़्ज़त से तुम्हें कुछ मिल न रहा हो तो तुम कहोगे कि अपनी इज़्ज़त अपनी जेब में रखो। हमें चाहिए ही नहीं तुम्हारे द्वारा सम्मान। सम्मान हमें पसंद है क्योंकि सम्मान हमें कई तरीक़े के लाभ दिलाता है। लाभ रहित सम्मान मिल रहा हो तो तुम नहीं लोगे। उस सम्मान का आकर्षण बिलकुल कम हो जाएगा। बात को समझो।

बहुत लोग बोलते हैं कि हमें इज़्ज़त बहुत प्यारी है। किसी को भी इज़्ज़त नहीं प्यारी होती, इज़्ज़त से जो लाभ हो रहा होता है वो प्यारा होता है। बताओ कौन-सा लाभ है जिसके पीछे भाग रहे हो। तुमने ये देखा है कि जिसको तुम इज़्ज़त देते हो, उसे फ़िर लाभ देना भी शुरू कर देते हो, देखा है न? और तुमने ये भी देखा है कि जिसकी इज़्ज़त गिर जाती है, उसको जो भौतिक लाभ हो रहे होते हैं, वो भी रुक जाते हैं। ये देखा है कि नहीं? असली

बात भौतिक लाभों की है, किन्हीं पदार्थों के लालच में हो। वो पदार्थ इज़्ज़त के पीछे-पीछे बंधे चले आते हैं इसलिए तुम इज़्ज़त की बात करते हो। बताओ किस चीज़ का लालच है?

प्रश्नकर्ता: लालच तो इज़्ज़त का ही है।

आचार्य प्रशांत: न, इज़्ज़त के पीछे क्या है जो मिल रहा है तुम्हें? कुछ तो होगा—रुपया, पैसा, रोटी, घर, सर पर छत, भविष्य का आश्वासन, अन्य किन्हीं भौतिक इच्छाओं की पूर्ति, ये आशा कि अगर समाज में इज़्ज़तदार रहेंगे तो अच्छी पत्नी मिल जाएगी—कुछ-न-कुछ भौतिक लालच ज़रूर बांध रखा है।

प्रश्नकर्ता: कई लालच जुड़े हैं। कोई एक नहीं है।

आचार्य प्रशांत: जैसे?

प्रश्नकर्ता: जैसे कि जो पत्नी वाला बता रहे हो आप, उसके अलावा माँ-बाप भी सब अच्छा समझें।

आचार्य प्रशांत: क्यों समझें? भौतिक चीज़ क्या है वो बताओ, मटेरियल ग्रीड क्या है उसकी बात करो—असली चीज़ वहीं होती है।

प्रश्नकर्ता: पता नहीं चल रहा, आचार्य जी।

आचार्य प्रशांत: सब पता है, न पता होता तो डरते क्यों? जिसको नहीं पता होगा कि उसकी छाती पर साँप लोट रहा है, वो डरेगा क्या साँप से? तुम सो रहे हो, साँप गुज़र गया, डर जाते हो? सब पता है तभी तो डरते हो।

जिसने इतनी बड़ी विवशता पाल रखी हो कि उसको पत्नी ही तभी मिलेगी जब समाज के लोग उसकी इज़्ज़त करें तो वो तो समाज से डर के ही रहेगा न! तो तुम्हें कौन डरा रहा है, कौन दबा रहा है? प्रेम का अभाव। तुम में इतना प्रेम नहीं, इतना पौरुष नहीं कि तुम कहो कि समाज की मध्यस्थता से नहीं चाहिए पत्नी। पुरुष हैं, प्रेम करेंगे, ले आएँगे। समाज से भीख थोड़े ही माँगेगे कि लड़की दे दो। और तुम्हारी कामवासना, तुम ये भी नहीं कहते कि हम अगर अपने बूते नहीं ला सकते हैं लड़की तो चलो नहीं ही लाएंगे—कामवासना भी फनफनती है। जितना वासना फनफानाएगी, उतना तुम जाकर समाज के ठेकेदारों के पाँव पकड़ लोगे, क्योंकि वही तुमको फिर लड़की दिलवाएंगे—विवाह तो वहीं करवाएंगे न!

लड़के जब घर में जवान हो जाते हैं, और विवाह की, माने वासना की खुजली उठती है, तो दादा और ताऊ के प्रति सम्मान से भर जाते हैं बिलकुल। रोज़ जाते हैं रात में ददा के पास

तेल लेकर के, उनकी सोते वक़्त मालिश करेंगे। ददा समझ जाते हैं कि लड़का अब बेकाबू हो रहा है, रातों को तेल लेकर घूमता है।

नकली है न ये सम्मान? भौतिक, पार्थिव, लाभ के प्यासे हो। और जिस दिन मिल गई पत्नी, उस दिन रात में दो बजे ददा प्यास से मार रहे हों, कितना भी चिल्लाएं, तुम बिस्तर काहे को छोड़ोगे? इसी तरीक़े से रोटी और छत। जब पच्चीस के होकर भी आश्रित बने हुए हो कि किसी और की रोटी तोड़ोगे, किसी और के दिए हुए घर में रहोगे, तो जिसकी दी हुई रोटी खा रहे हो, जिसके घर में रह रहे हो, उसकी नज़रों में अपनी छवि तो उज्ज्वल रखनी पड़ेगी न। क्योंकि छवि अगर उज्जवल नहीं रखी तो रोटी रुक जाएगी, छत छूट जाएगी।

दुर्बलता सबसे बड़ा दोष है। और वो भी जब जवान आदमी में दुर्बलता दिखे, तो उससे विकृत और कुरूप दृश्य तो कोई होता ही नहीं। क्या बिगाड़ लेगा कोई तुम्हारा भई? और इतना दब-दब के, इतना डरकर जी के पा क्या रहे हो? जो कुछ भी पा रहे हो, वो बड़ा महँगा है, लुट रहे हो।

प्रश्नकर्ता: इस से खिंचाव और तनाव रहता है दिमाग में हर दम, हर समय।

आचार्य प्रशांत: ये तनाव कीमत है जो तुम भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए अदा कर रहे हो। और तुमको देखकर लगता नहीं कि भौतिक सुख भी तुम्हें कुछ बहुत मिल रहा है। दो वक़्त की रोटी मिल रही होगी, कुछ कपड़े मिल रहे होंगे, सोने को एक बिस्तर, रहने को एक कमरा, सर छुपाने को एक छत—इससे ज़्यादा तुम्हें कुछ मिल भी नहीं रहा होगा। पर इतना भर मुफ़्त में पाने के लिए तुमने अपने जीवन को दुर्बलता, तनाव, सबसे भर लिया है।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, समझ में आता है पर दूर नहीं होती।

आचार्य प्रशांत: वो दूर तभी होगी जब तुम कहो कि मरना भला है ग़ुलामी की रोटी तोड़ने से। जब तुम कह दो कि कुँवारा जीना भला है इस तरह का ब्याह आयोजित करने से। थोड़ी ख़ुद्दारी दिखाओ।

नौकरी करते हो तो तनख्वाह भी मिलती होगी। तो वो सब क्या बचा-बचा के रखना है? उसके बूते क्यों नहीं जीते?

प्रश्नकर्ता: शादी भी हो गई है।

आचार्य प्रशांत: अब और करनी है?

प्रश्नकर्ता: नहीं। वो तो आपने उदाहरण पूछा था, वैसे बताया था।

आचार्य प्रशांत: अभी क्या चाहिए जिसके लिए डरे हुए हो?

प्रश्नकर्ता: कुछ नहीं।

आचार्य प्रशांत: भक! जिसको कुछ नहीं चाहिए होता वो आज़ाद हो जाता है, पूर्णतया निर्भीक। जो इतना डर रहा है, उसे बहुत कुछ चाहिए है अभी। क्या चाहिए?

प्रश्नकर्ता: चाहिए तो नहीं लेकिन जो 'अच्छे' की सोच है, वो ही निकल नहीं रही दिमाग से।

आचार्य प्रशांत: न, बात सोच की है ही नहीं। बात सीधे-सीधे भौतिक वस्तुओं की है, भौतिक सुखों की है। या तो कुछ सुख हैं जो तुम्हें चाहिए, या कुछ सुख हैं जो मिले हुए हैं और तुम नहीं चाहते कि वो छिन जाएँ। या तो कुछ पाने का लालच है, या फ़िर कुछ पकड़े रहने की कामना। और जो चीज़ है वो पूर्णतया भौतिक ही होगी। कोई ऐसी भौतिक चीज़ है जो तुम्हें लग रहा है कि दूसरों से ही मिल रही है और दूसरे अगर खुश नहीं रहे तो वो चीज़ छिन जाएगी। वो कौन-सी चीज़ है बताओ?

प्रश्नकर्ता: नौकरी, इज़्ज़त, रिश्ते।

आचार्य प्रशांत: इज़्ज़त फ़िर मत बोलो। आख़िरी चीज़ इज़्ज़त नहीं है, इज़्ज़त से जो मिल रहा है वो बताओ। और वो कोई भौतिक चीज़ होती है।

प्रश्नकर्ता: रिश्ते।

आचार्य प्रशांत: रिश्तों से क्या मिल रहा है? भौतिक वस्तु का नाम लो।

देखो रिश्ते या तो प्रेम के होते हैं या पदार्थ के। प्रेम का अगर होगा रिश्ता तो उसमें डर इतना रहेगा नहीं। और डर इतना है, इसका मतलब रिश्ता है ही लालच का। अब लालच तो किसी चीज़ का ही होता है। भले ही तुम ये कहो कि तुम्हें इज़्ज़त का लालच है। इज़्ज़त का लालच भी अंततः किसी वस्तु का ही लालच होता है।

प्रश्नकर्ता: वो चीज़ मिलती भी नहीं है।

आचार्य प्रशांत: कौन-सी चीज़?

प्रश्नकर्ता: जिसका लालच है।

आचार्य प्रशांत: किसका?

प्रश्नकर्ता: वो खुद को भी पता नहीं चलता।

आचार्य प्रशांत: अरे, ऐसा नहीं है, बताना नहीं चाह रहे।

बेटा, हम ऐसी मजबूर ज़िंदगियाँ जीते हैं जिसमें हमारे पास जो कुछ भी भौतिक रूप से होता है वो सब कुछ दूसरों के रहमों-कर्म पर आश्रित होता है। बहुत लोग तो ऐसे हैं जिनकी अगर समाज में इज़्ज़त गिर जाए तो उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर चली जाएगी। और होता भी है। बहुत लोग तो ऐसे हैं जिनकी अगर समाज में इज़्ज़त न रहे तो उन्हें घर खाली करना पड़ेगा। अब बताओ, वो समाज की नज़रों में अपनी छवि ठीक रखना चाहेंगे या नहीं? बोलो।

तुम्हारे जीवन में जो कुछ होता है, जब वो असली नहीं होता, आत्मिक नहीं होता, तो तुम हमेशा डरे-डरे घूमते हो क्योंकि जो है वो छिन सकता है।

समाधान—ऐसी चीज़ों से तौबा कर लो जो छिन सकती हैं। जिसको बचाने की इतनी बड़ी क़ीमत अदा करनी पड़ती हो, उसको बचाओ ही मत। ज़िंदगी में कुछ ऐसा लेकर के आओ जो छिन नहीं सकता, फ़िर दूसरों का मुँह नहीं देखना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता: ये चीज़ पता भी नहीं चलती।

आचार्य प्रशांत: तो जितनी चीज़ें हैं तुम्हारे पास, समझ लो कि वही चीज़ें दूसरों पर आश्रित हैं। जो कुछ तुम्हारे जीवन में भौतिक रूप से मौजूद है, समझ लो वही तुम्हारे दुःख का, तनाव का कारण है। उसी को बचाने के लिए ही तो लगे हुए हो।

वो जो आख़िरी चीज़ है, जो दूसरों पर आश्रित होती है, उसका नाम है 'अहम'। वो दूसरों के सहारे के बिना चल ही नहीं सकती। अहम कमज़ोर है, लंगड़ा है—उसे लाठी चाहिए होती है, किसी का सहारा चाहिए होता है। अकेला वो नहीं चल सकता और सहारा उसे हमेशा किसी भौतिक वस्तु का, व्यक्ति का ही चाहिए। इसीलिए तो अहम अपने चारों ओर व्यक्ति जुटाता है, वस्तुएँ इकट्ठी करता है।

प्रश्नकर्ता: व्यक्तियों से वो डरता भी है।

आचार्य प्रशांत: हाँ, डरेगा ही कि कहीं चले न जाएँ। अहम कहता है कि मैं इनपर आश्रित हूँ, अगर ये चले गए तो मैं तो गिर ही जाऊँगा न? तुम किसी का सहारा लेकर खड़े हो और वो व्यक्ति कहे "मैं जा रहा हूँ", तुम तो डर जाओगे। तुम किसी रस्सी पर अटके हुए हो और कोई कहे रस्सी काट रहा हूँ, कितना डरोगे? लटकना बंद करो। ये भरोसा करो कि बिना लटके भी जिया जा सकता है। तुम्हें न कोई सीढ़ी चाहिए, न कोई रस्सी चाहिए—तुम स्वतंत्र हो, तुम आज़ाद हो, ग़ुलामी अनिवार्यता नहीं है।

थोड़ा प्रयोग तो करके देखो, जिन बातों को, जिन लोगों को, जिन वस्तुओं को तुम अपने लिए बहुत ज़रूरी समझते हो, थोड़ा-सा उनसे हटकर देखो—कष्ट होगा, लेकिन मिट नहीं जाओगे तुम, तुम बने रहोगे। और जितना हटोगे, उतना ज़्यादा आज़ाद बने रहोगे। आज़ादी के लिए कुछ कष्ट झेलना पड़े तो ठीक है, वो कष्ट भी शुरू-शुरू में ही होता है ज़्यादा, क्योंकि पुरानी आदत है, वो टूटती है तो थोड़ी तकलीफ़ होती है। एक बार झेल जाओ, आगे तकलीफ़ भी कम हो जाती है, बंद हो जाती है, आज़ादी का आनंद मिलने लगता है।

प्रश्नकर्ता : करना की कोशिश करता हूँ लेकिन एक डर रहता है कि मैं कर भी पाउँगा या नहीं।

आचार्य प्रशांत: तो कर लो। अच्छी सोच है, कोशिश करनी चाहिए। ये तो बढ़िया बात है।

प्रश्नकर्ता: लेकिन होता नहीं है।

आचार्य प्रशांत: अब नहीं होता तो इस सोच से कहो कि नहीं होता तो बार-बार क्यों लौटकर आती है?

प्रश्नकर्ता: करना चाहता हूँ, लेकिन विचारों में फिर फँस जाता हूँ।

आचार्य प्रशांत: अब ये बात तुम गोल-गोल घुमा रहे हो। आगे नहीं जा रही है। "करना चाहता हूँ", "होता है", "सोचता हूँ"—अब ये बात कहीं को नहीं जा रही है। 'करने' पर यकीन रखो, 'बात' करने पर नहीं। "हम करते हैं, बहुत करते हैं, आचार्य जी"—क्या करते हैं? बात। हम बात करते हैं!

कुछ करके दिखाओ, इतनी बातें बनाने से कुछ नहीं होगा। सोच में ये होता है, वहाँ ये होता है, ऐसा होता है, वैसा होता है—ज़ंजीरों को न हिंदी भाषा चाहिए, न अंग्रेज़ी भाषा चाहिए, इतनी बातें मत बनाओ। उन्हें हथोड़े की भाषा चाहिए। हथोड़े की भाषा में बात करो। इतनी हिंदी बोलोगे, कुछ नहीं होगा। जवान आदमी को और कोई भाषा आए-न-आए, हथोड़े की भाषा आनी चाहिए। जी आप कौन-सी भाषा बोलते हैं? "मैं हथौड़ा बोलता हूँ"। जिसको हथौड़ा बोलना नहीं आता, वो अपने बंधनों से बात-चीत ही करता रह जाएगा। बंधनों के सामने गीत गाएगा, भजन सुनाएगा, श्लोक बताएगा, उससे बंधन नहीं टूटते। बंधनों से कौन-सी भाषा में बात करनी पड़ती है? हथोड़े की।

तो हिंदी-अंग्रेज़ी बंद करो, बहुत हुआ। करके दिखाओ कुछ।

१३. दूसरों पर निर्भर रहना बंद करो

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, बहुत अच्छा लग रहा है यहाँ शिविर में आकर। ऐसा घर पर अनुभव नहीं होता। ऐसे में मुझे क्या करना चाहिए?

आचार्य प्रशांत : दो-चार बातें हैं, सब ध्यान से सुनो। पहली बात तो ये कि—सही जगह पर जितना समय गुज़ारोगे, भ्रामक और अशांत जगह पर वक्त गुज़ारना उतना मुश्किल होने लगेगा तुम्हारे लिए। तो यह हमने पहली बात कही। क्या? कि सही जगह पर जितना वक्त गुज़ारोगे, अशांतिपूर्ण जगह पर वक्त गुज़ारना तुम्हारे लिए उतना मुश्किल होने लगेगा। दूसरी बात ये कि—अक्सर सही जगह पर थोड़ा वक्त गुज़ारना अंदरूनी साज़िश होती है गलत जगह को बरकरार रखने के लिए। आप कहते हो कि, "एक संतुलन बना दिया न। मैं कोई पूरी तरह से भ्रमित या बहका हुआ थोड़े ही हूँ। मैं बीच-बीच में शिविरों में शिरकत करता रहता हूँ।" तो, शिविरों में जाना, अपनी जो बाकी उलझी हुई और बहकी हुई दिनचर्या है, उसको यथावत रखने का बहाना और कारण बन जाता है। ऐसे में आप शिविर से कोई गहरा लाभ उठा नहीं पाओगे, क्योंकि आप शिविर में इसलिए जा ही नहीं रहे हो कि आप शिविर के हो जाओ। आप शिविर में जा ही इसलिए रहे हो ताकि थोड़ी थकान मिटा लो, थोड़े ताजे हो जाओ। और वापस आकर के पुनः अपनी पुरानी दुनिया में डूब जाओ।

जब आदमी इस तरह का विभाजन करता है कि अट्ठाईस दिन काम के और दो दिन अध्यात्म के, तब उन अट्ठाईस दिनों में सब मैला-मैला, काला-काला हो जाता है। क्योंकि आप चाहते हो कि इस तरीके का एक तीक्ष्ण विभाजन हो जाए। और इन दो दिनों में आपको सब कुछ उजला-उजला, धवल-धवल, साफ-साफ बनाना ही पड़ता है। आपने इस विभाजन को परिभाषित ही ऐसे किया है कि, "मेरी कामकाजी दुनिया, मेरी सामान्य दुनिया, वहाँ लोग ज़रा गंदे-गंदे हैं। उनके साथ मेरा मन नहीं लगता। और उससे भागकर के मैं कभी-कभार शिविरों में आता हूँ। यह बड़ी अच्छी और प्यारी-प्यारी दुनिया है। यहाँ मेरा मन खूब लगता है।" तो फिर यहाँ के सब लोग तुम्हें अच्छे लगेंगे और वहाँ के सब लोग तुम्हें

बुरे लगेंगे। यहाँ के सब लोग तुम्हें अच्छे लग ही इसलिए रहे हैं क्योंकि उनके साथ दो ही दिन रहना है और तुमने तय कर रखा है कि दो दिन के बाद विदाई है। इन्हीं लोगों के साथ हफ्ता गुज़रो, तो इनमें से ही कुछ तुम्हें बुरे लगने लगेंगे। ये तुम अपने लिए व्यर्थ का एक द्वैत खड़ा कर रहे हो, और ये द्वैत कुछ नहीं है, एक चक्की है, दो फांक हैं। विभाजन का काम ही यही होता है न, दो फांक बना देना। दो हिस्से हो गए, ये चक्की चलती रहेगी—जीवन इसमें पिसता रहेगा, समय व्यर्थ जाता रहेगा। तुम यहाँ समय गुज़ारोगे और अपनेआप को बताओगे कि बहुत अच्छा समय था, बहुत बढ़िया समय था—लेकिन तुम्हारा यहाँ के यथार्थ से कोई संबंध नहीं होगा। तुम एक काल्पनिक, उज्जवल, धवल छवि गढ़ लोगे कि जगह बहुत अच्छी थी, समय बहुत अच्छा गुज़रा, बड़ा मीठा, बड़ा प्यारा अनुभव हुआ। और अब हम जा रहे हैं, कहाँ? वही अपनी दुनिया में वापस। और फिर यहाँ से जब वहाँ वापस जाओगे तो गरियाओगे, कहोगे, "यह बेकार है"। कुछ दिन वहाँ रहोगे फिर तुम्हारी ही परिभाषा कहती है कि वह दुनिया बेकार है तो एक-आध दो दिन को फिर यहाँ लौट कर के आओगे। उनको अगर तुम्हें कहते रहना है—'बेकार', तुम्हें अगर यह साबित करते रहना है कि तुम्हारी बाहर की दुनिया 'बेकार' है तो तुम्हारे ऊपर फिर जिम्मेदारी आ जाती है, अनिवार्य हो जाता है, कि तुम कहो कि यहाँ की दुनिया बहुत 'अच्छी' है। तुम्हें कैसे पता कि यहाँ की दुनिया बहुत अच्छी है? अच्छी है या बुरी है? यह जानने के लिए तो पहले इसमें गहरे पैठना पड़ेगा। इस तरह की भावनाएँ, अध्यात्मिक शिविरों और सत्संगों में खूब छलकती हैं, इन भावनाओं से सावधान रहना। लोग मिलेंगे, एक दूसरे से कहेंगे, "बस, अब हम गुरु भाई हैं। तुम्हारा ही इंतजार था। ऐसा लग रहा है कि कुंभ में बिछड़ा हुआ कोई मिल गया। तुम्हारे लिए ही तो बेकरार थे। आओ सखी, तुम सब को देखते हैं तो ऐसा लगता है कि तुम ही लोग परिवार हो।" ये लोग अगर इतने अच्छे लगते हैं तो इन को छोड़कर काहे जा रहे हो भाई? यही बस जाओ। और यह तो छोड़ दो कि यहाँ बसना है, तीसरे दिन देखना कितने हड़बड़ी में भागोगे— किसी का टिकट होगा, किसी की कोई और व्यस्तता, कोई और ज़िम्मेदारी। अभी ही, भोजन से पहले, एक-दो लोग यहाँ ज़्यादा थे। अभी एक-दो लोग कम हो गए। कमरे उनके यहाँ आरक्षित हैं। और कहना उनका यही है कि हम बिलकुल न किसी दबाव में जीते हैं, न हमें जीवन में किसी प्रकार का कोई कष्ट है। और दो फोन आए नहीं कि चंपत (गायब)! न कोई दबाव है, न कोई कष्ट है, बस कमरा सूना पड़ा है! इस तरह की सस्ती भावनाओं से बचना, और यह बहुत बहती हैं—अध्यात्म 'भावुकता' का नाम नहीं है कि "बस मुझे तो यहाँ आकर के ऐसा लगता है कि मुझे मेरा घर मिल गया, स्वर्ग मिल गया—लाओ ज़रा अपना फोन नंबर देना"। बहुत लोग होते हैं जो समाज में अन्यथा मेलजोल नहीं बढ़ा पाते तो अध्यात्मिक शिविरों को मेलजोल बढ़ाने का, सोशलाइज़िंग का माध्यम बना लेते हैं, कि चलो यहीं पर कुछ नए लोगों से जान पहचान होगी।

मीठा-मीठा नहीं है अध्यात्म। अगर तुम्हारे साथ ऐसा नहीं हुआ है कि ज़हर से ज़्यादा कड़वा लग रहा हो, तो अभी तुमने चखा ही नहीं है। जान जाती है, गला कटता है, ज़हर पीना पड़ता है। अभी तो बता रहे हो कि बाहर की दुनिया खराब है, यहाँ सत्संग अच्छा लगता है—ज़रा गहरे डूबोगे तो पता लगेगा। और जो गहरे डूबे हैं, उनसे कभी पूछना, वो बताएँगे, कि गुरु के सानिध्य में रहो तो बाहर की दुनिया बहुत प्यारी लगने लगती है, "ये कहाँ फँस गए, भागो रे!" ये सब किस्से कहानियों की लच्छेदार बातें हैं, इनमें मत फँस जाना, कि अमृत-धार बहती है, मधुरस बहता है, आ हा हा, जाम छलकता है, शहद-ही-शहद है। मार पड़ती है, बढ़िया वाली। और फिर बाहर, सब कुछ, बड़ा प्रलोभित करेगा, आमंत्रित करेगा, लगेगा बस भाग ही जाएँ। दो बार झाड़ पड़ेगी नहीं बच्चू कि गायब हो जाओगे एकदम। फिर नहीं कहोगे कि बाहर सब बुरा है। फिर कहोगे कि—"बाहर के क्या कहने! वहाँ कोई कम-से-कम छाती पर तो नहीं चढ़ता, गर्दन तो नहीं पकड़ता। यह अध्यात्म का तो मतलब होता है—व्यक्तिगत स्वतंत्रता का ह्रास। हमें हमारे हिसाब से कुछ करने ही नहीं दिया जाता। हम कुछ भी करें तो कहा जाता है कि यह तो अहंकार है। चलो जी, गुरु की आज्ञा का पालन करो। गुरु न हुए हिटलर हो गए! हमारी भी कोई हस्ती है कि नहीं? संविधान ने हमको कुछ हक दिए हैं। मूल अधिकार है। हमारी भी कुछ स्वतंत्रता है। अब हमारा मन कर रहा है कि अभी हम सोएँगे तो सोएँगे। गुरुदेव कौन होते हैं बताने वाले कि अभी जगो? हमारा मन कर रहा है कि हम दिन भर सोएँगे, तो वो काहे को बता रहे हैं? हमारा मन है अभी हमें जाना है, हमारा मन है अभी हमें आना है। गुरुदेव बता रहे हैं —"नहीं, गुरु आज्ञा से आवे, गुरु आज्ञा से जाए"। काहे गुरु आज्ञा से आए? काहे गुरु आज्ञा से जाए? अपने हिसाब से चलेंगे। गुरुदेव कह रहे हैं—"कहे कबीर सो शिष्य को आवागमन नशाय"। अरे हमें आवागमन बंद करना ही नहीं है। हमें आना-जाना बहुत अच्छा लगता है, बस टिकट सेकंड ए.सी. का होना चाहिए, आवागमन में क्या समस्या है?

जो लोग ज़रा पुराने खिलाड़ी हों, उनसे पूछना कि अध्यात्म कितना मीठा है। कवियों से मत पूछो, और न उनसे पूछो जो पार निकल गए हैं, उनसे पूछो जो मध्य में हैं, क्योंकि उनसे तुमको तुम्हारे मुताबिक सही इशारा मिलेगा। न उनसे पूछो जो बाहर से देख रहे हैं, क्योंकि उन्हें कुछ पता नहीं। वह तो तुम्हें लच्छेदार परी कथाएँ सुनाएँगे। और न उनसे पूछो जो पार निकल गए हैं, जो पार निकल गए हैं, वह भी बड़ी मीठी बातें करेंगे। मैं कह रहा हूँ, उनसे पूछो जो मध्य में है, वो बताएंगे तुम्हें। "कितना मीठा है भाई, अध्यात्म?" नहीं, मीठा नहीं है।

प्रश्नकर्ता: पर मुझे वो बहुत कड़वा लग रहा है।

आचार्य प्रशांत : क्योंकि यह अभी कितना कड़वा है, पता नहीं चला न। इसको पी लो, फिर बाहर सब मीठा-मीठा लगेगा। अध्यात्म होता ही इसीलिए है ताकि फिर तुम जीवन को बहुत मीठा पाओ। यहाँ तुमको इतना कड़वा घोल पिलाया जाता है कि उसके बाद जीवन कैसा लगने लगता है, एकदम मीठा।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, क्या इसका मतलब यह है कि मैं कुछ दिन अध्यात्म में चल कर देखूँ, ताकि बाहर की दुनिया मीठी लगे?

आचार्य प्रशांत : अभी पहला ही दिन है, बेटा। *(मुस्कुराते हुए)* तीसरा दिन आने दो। और तीसरे दिन को भी झेल जाओ, तो फिर दो-चार शिविर और करना।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, स्पष्ट तौर पर बताऊँ तो दिल तो करता है कि झेल लूँ आकर के क्योंकि वहाँ नहीं झेला जाता है। बड़े भारीपन में होकर के जीता हूँ, वहाँ झूठा नकाब पहनकर मज़ा नहीं आता। समझ नहीं आता कि क्या करूँ।

आचार्य प्रशांत : *(हँसते हुए)* यह तुम हमें चुनौती दे रहे हो।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, नहीं। सच बात बता रहा हूँ। चुनौती कैसे दे सकता हूँ। अपने मन की दुविधा साफ कर रहा हूँ कि कहाँ फँसा पड़ा हूँ अभी।

आचार्य प्रशांत : अरे बेटा, वहाँ फँसे ही इसलिए पड़े हो क्योंकि तुम्हारे भीतर की कड़वाहट तुम्हें कभी किसी ने ज़ाहिर नहीं करी। बाहर वाले अगर तुमको गुलाम बना रहे हैं तो इसलिए क्योंकि भीतर से तुम गुलाम हो। और यहाँ अगर आओगे तो आईना दिखाया जाएगा। उस आईने में चेहरा नहीं दिखाई देता, मन दिखाई देता है। और जब आईने में नजर आएगा कि भीतर कितनी गुलामी छुपी है, तो अच्छा नहीं लगेगा। हाँ, लेकिन अगर वो आईना ठीक से देख लिया, अपनी गुलामी से रूबरू हो गए, तो बाहर फिर किसी का गुलाम बनने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

बाहर की दुनिया ऐसी है कि जैसे ज़ख्म हो पाँव में, और चलो तो दर्द होता हो, टीस उठती हो। और अध्यात्म ऐसा है कि जैसे, आओ, और ज़ख्म उखेड़ दिए जाएँ। तो बाहर कम-से-कम ज़ख्म छुपे तो हुए हैं, पट्टी बंधी हुई है, चल तो रहे हो। यहाँ आओगे तो सब उघेड़ दिया जाएगा, और दिखेगा कि खून बह रहा है और घाव गहरा है।

प्रश्नकर्ता: पर यह निश्चित हो जाएगा कि ज़ख्म भर जाएगा।

आचार्य प्रशांत : क्या पता। तुम भरने दोगे तो भरेगा।

प्रश्नकर्ता: नहीं, उधर तो पता ही नहीं है न—पट्टी के अंदर पता नहीं भरे या न भरे।

आचार्य प्रशांत: हाँ, उधर पट्टी के नीचे ज़ख्म है पर आँखों के सामने रसगुल्ला है। तो ज़ख्म याद नहीं आता और तुम बढ़े जाते हो उसकी ओर। ये तो हुआ ही होगा न। पाँव में ज़ख्म है और आँखों के आगे क्या है? रसगुल्ला! तो बढ़े जा रहे हैं। फिर ज़ख्म का दर्द ज़रा सहनीय हो जाता है। यहाँ रसगुल्ला कोई है नहीं। और ज़ख्म और खोल दिया जाएगा, कि लो, देखो।

प्रश्नकर्ता: समय तो यही आ गया है कि अब देखने का दिल करता है।

आचार्य प्रशांत: बस, अब तो दिखा ही देते हैं, तुमको।

प्रश्नकर्ता: जितनी उम्र हो गई है, उस हिसाब से विकास नहीं हो रहा, परेशानी बहुत ज़्यादा है अंदर।

आचार्य प्रशांत : बस, शिष्य हो तो ऐसा। वो गुरु के सामने खुद फरसा लेकर खड़ा हो जाए, कि लो, काटो। बहुत बढ़िया।

बेटा, क्यों दुनिया दुःख झेलती रहती है, पीड़ित रहती है, फिर भी चलती रहती है? कभी विचार नहीं किया? दुनिया में जितने लोग हैं, सब संतप्त हैं, सबको दुःख है, है न? ऐसा क्यों है, कभी विचार नहीं किया? ऐसा इसलिए है क्योंकि दुःख से मुक्ति के लिए बड़े-से-बड़े दुःख से होकर गुज़रना पड़ता है। तो लोग कहते हैं कि दुनिया में जो हम दुःख झेल रहे हैं, वो तो छोटा है, मुक्ति के लिए जो दुःख झेलना पड़ेगा, वह बहुत बड़ा है। तो भाई, छोटा दुःख ही ठीक है।

अध्यात्म में आनंद बाद में आता है, पहले तुम्हें बड़े-से-बड़े दुःख से रूबरू होना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, मुझे भोला-भाला बन कर नहीं रहना है। ऐसा बनना है कि दुनिया के हाथ न आऊँ क्योंकि पिछली बार आया था तो बड़ी परेशानी हुई थी, इसके लिए मुझे क्या करना चाहिए?

आचार्य प्रशांत : सारी समस्या ये है बेटा, पिटाई से बचने के लिए बहुत बड़ी पिटाई करवानी पड़ती है। तो गणित सीधा बैठता है फिर। आदमी कहता है कि छोटी पिटाई से बचना चाहते हैं, और उससे ज़्यादा बड़ी पिटाई कहाँ हो रही है? पिटाई से बचने की प्रक्रिया में। तो इससे अच्छा तो यह है कि बाहर जो पिटाई हो रही है, वह झेले चले जाओ। अगर आपसे कहा जाए कि किसी गर्म जगह को छह घंटे झेलना है। और आपसे कहा जाए कि उस गर्म जगह से बाहर आने का तरीका है कि आग से होकर एक बार में गुज़र जाओ—दो मिनट, पाँच मिनट लगेगा आग से होकर गुज़र जाओ। अब क्या बर्दाश्त करोगे? छह घंटे का ताप या पाँच मिनट के लिए आग से होकर गुज़रना?

प्रश्नकर्ता : पाँच मिनट के लिए आग से गुज़रना।

अन्य प्रश्नकर्ता: छह घंटे का ताप।

आचार्य प्रशांत : छह घंटे का ताप। जीवन भर का ताप झेल जाता है आदमी क्योंकि ताप से निकलने के लिए आग से गुज़रना पड़ता है। इसीलिए तो हम ताप बर्दाश्त करे रहते हैं, दु:ख बर्दाश्त करे रहते हैं।

प्रश्नकर्ता: मन करता है कि पाँच मिनट की आग बर्दाश्त करके निकल जाएँ।

आचार्य प्रशांत : ऐसा होता नहीं है, कर लो तो अच्छा है। असंभव नहीं है, हो सकता है।

प्रश्नकर्ता: पहले मुझपर दादा जी का आशीर्वाद नहीं था। वह तो साथ में ही थे, पर पत्नी थी ही नहीं। अब दोनों हैं, तो मैं उनके सहारे से निकल सकता हूँ। मुझे लगता है ऐसा।

आचार्य प्रशांत : अच्छा है, निकल जाओ तो। निकलना चाहिए, यही दायित्व है। परंतु किसी भ्रम में मत रहना। निकलना आकर्षक लगता है; निकलने की प्रक्रिया में कीमत चुकानी पड़ती है। इसीलिए कहते हैं न ‘तपस्या’—तपना पड़ता है जमकर के, जल ही जाना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, मुझे घर वाले शिविर में आने ही नहीं दे रहे थे। उनका कहना है कि इससे मुझमें किसी तरह का कोई सुधार नहीं होता है। दूसरों पर निर्भरता से बाहर कैसे निकलूँ?

आचार्य प्रशांत : बेटा, सबसे पहले तो अपनेआप को उस हालत में लाओ जहाँ पर तुम्हें यह ‘अनुमति, सहमति’ के खेल से छुटकारा मिले। क्या उम्र है आपकी?

प्रश्नकर्ता: इकत्तीस वर्ष।

आचार्य प्रशांत : तो इस उम्र में आपको माँ-बाप से पूछना पड़ रहा है?

प्रश्नकर्ता: जी, हाँ।

आचार्य प्रशांत : तो सबसे पहले तो अपनेआप को इस हालत से बाहर लाओ। बाकी सब अध्यात्म बैठा रह जाएगा अगर सीधे-सीधे हाथों में बेड़ियाँ ही पड़ी हुई हैं। इसमें बहुत संभावना है कि कहीं कोई आर्थिक पक्ष भी होगा?

प्रश्नकर्ता: नहीं, आर्थिक पक्ष तो मजबूत है हमारा।

आचार्य प्रशांत : 'हम' माने कौन, तुम या घर वाले?

प्रश्नकर्ता : घर वाले ही हैं। लेकिन यह बात सही है कि उनसे इजाज़त के बिना नहीं कर सकता कुछ मैं।

आचार्य प्रशांत : तो वो 'परमिशन' है ही इसीलिए क्योंकि तुम्हारा अपना व्यक्तिगत आर्थिक पक्ष शायद दृढ़ नहीं है।

प्रश्नकर्ता: नहीं है। वो तो पिताजी के साथ ही काम करता हूँ मैं।

अचार्य प्रशांत : हाँ, तो बस हो गया। ऐसे में कोई मुक्ति नहीं मिलती।

प्रश्नकर्ता: यही बात है, यही मुसीबत है।

आचार्य प्रशांत : तुम्हारे पास बुनियादी आर्थिक स्वतंत्रता ही नहीं है अगर, तो कौन-सी मुक्ति, कैसी मुक्ति? तुमने कहा कि घर वाले कह रहे हैं कि जब भी तुम किसी शिविर से लौटते हो, उन्हें तुममें कोई इंप्रूवमेंट, प्रगति नहीं दिखाई देती। उन्हें 'प्रगति' का अर्थ पता है? वो जाँच लेंगे 'प्रगति' को? पर उन्हें यह हक़ कैसे मिल गया कि वो तुम्हारी प्रगति के निर्णयता बन जाएँ? क्योंकि उन्होंने पैसे दिए हैं। तो ज़रा जमीन की बात करो।

ज़मीन की बात करने का नाम है 'अध्यात्म'।

मुक्ति किस चीज़ से मिलेगी? जो तुम्हें बांधे हुए है, उसी से मुक्ति। अगर आर्थिक परतंत्रता तुमको बांधे हुए हो, तो सबसे पहले तो उससे मुक्ति पाओ न। मुक्ति क्या है? कोई चिड़िया थोड़े ही है कि पकड़ लाओगे—मुक्ति। मुक्ति कोई वस्तु थोड़े ही है कि साक्षात कर लोगे—मुक्ति। मुक्ति का क्या मतलब है? जो कुछ भी तुम्हें सीमित करता है, तुम्हें बंधन देता है, उससे छुटकारा पाओ। तुम्हारे सामने तो यही एक विकट स्थिति है कि पैसे, रूपए के लिए दूसरों पर आश्रित हो। उम्र इतनी है तुम्हारी, सबसे पहले तो उसको ठीक करो। नहीं तो दूसरे ही सब निर्णायक बने रहेंगे कि प्रगति हुई है कि नहीं हुई है। और मैं तुम्हें बताऊँ, जब तक कोई प्रगति नहीं हो रही है, तब तक तो फिर भी ठीक है—वो बस इतना ही कहेंगे कि कोई प्रगति नहीं हुई है—जिस दिन प्रगति वास्तव में हो गई, उस दिन देखना उनकी प्रतिक्रिया को। जब तक तो कुछ नहीं हो रहा तब तक तो अधिक-से-अधिक शिकायत ही करेंगे, कि, "अरे, कुछ हो नहीं रहा, कुछ हो नहीं रहा। तू फिर गया शिविर में और वैसे-का-वैसा आ गया। कुछ हो नहीं रहा।" और जिस दिन कुछ हो गया, उस दिन देखना। फिर तो शिविरों में आना पक्का बंद। तुम्हारी आर्थिक ऑक्सीजन ही काट दी जाएगी, साँस कैसे लोगे?

प्रश्नकर्ता: मुझे अब शिविर में आकर ही साँस आता है।

आचार्य प्रशांत : लो, शिविर में आकर साँस आता है, और वह साँस है उधार का।

प्रश्नकर्ता: बात तो सच है ये।

आचार्य प्रशांत : बस यही तो गड़बड़ है।

प्रश्नकर्ता : मुझे उत्तर मिल गया आपकी बातों में।

आचार्य प्रशांत: बस, अब पैसे कमाओ, यही अध्यात्म है।

प्रश्नकर्ता : पहले तो यही करना पड़ेगा।

आचार्य प्रशांत : बस, बस, बस।

प्रश्नकर्ता : पहले तो मेरा चलता ही था जैसे भी, अब तो मुझे पैसा कमाना ही पड़ेगा क्योंकि मुझे इस दिशा में आना है।

आचार्य प्रशांत: बेटा, इस दिशा में आओ चाहे न आओ, रोटी तो खा ही रहे हो न? हाँ, तो अपनी मेहनत की रोटी खाओ न। दूसरा अगर तुमको रोटी खिला रहा है, तो ऐसा हो नहीं सकता कि वो तुम्हारी आजादी पर बाधा न बने। हो सकता है वह बाधा तत्काल न दिखाई दे, लेकिन जिस दिन तुम उड़-भगना चाहोगे, उस दिन दिखाई देगा कि बाधा कितनी बड़ी है।

तुम्हें कोई बीमारी होती, तुम्हें कोई विशेष समस्या होती, तो चलो कोई बात नहीं, तुमने ले लिया सहारा। परमात्मा की रचना है संसार, उससे कुछ ले लिया, कोई बड़ी बात नहीं कर दी। पर जवान आदमी हो, हट्टे-कट्टे आदमी हो—शोभा नहीं देता कि तुम आर्थिक रूप से निर्भर रहो।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, दस साल हो गया। मैं दुकान पर काम करता हूँ, पिताजी के साथ।

आचार्य प्रशांत: तो अगर काम करते हो तो हक से अपनी तनख्वाह लो।

प्रश्नकर्ता : मुझसे हक से माँगा ही नहीं जाता।

आचार्य प्रशांत: देखो, सुनो व्यवहारिक बात—जो वास्तव में मेहनत कर रहा होता है, उसका हक कोई छीन नहीं सकता है। क्योंकि दूसरे व्यक्ति को पता होता है कि ये मेहनत कर रहा है, इसकी मेहनत से मेरी दुकान चल रही है—अगर ये चला गया तो मेरी दुकान का

क्या होगा? तो, अगर तुमने वास्तव में मेहनत करी होती तो जो भी है, तुम्हारे नात, रिश्तेदार, पिताजी, जो भी हैं, वो तुम पर दबाव बना ही नहीं सकते थे। उनको बिलकुल पता होता कि दुकान के चलने में तुम्हारा वास्तव में योगदान है, और तुम्हारी मेहनत के दम पर दुकान चल रही है, तो फिर वो तुम्हें कैसे परेशान करते? वो तुम्हारी कीमत समझते। अभी निश्चित रूप से, तुम्हारी मेहनत का बहुत महत्व है नहीं उनकी नज़रों में।

प्रश्नकर्ता : बिलकुल यही बात है।

आचार्य प्रशांत: निश्चित रूप से, तुम ऐसे हो जिसका विकल्प उपलब्ध है। उन्हें दिख रहा है कि तुम अगर गए भी तो आसानी से तुम्हारी जगह कोई और ले लेगा, तो इसलिए तुम्हारा मूल्य नहीं है। और जब तुम्हारा मूल्य नहीं है तो फिर तुम्हारे ऊपर दबाव बनाया जाता है, और पचास तरह की बंदिशें।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, मैं आर्थिक रूप से मज़बूत हूँ, ख़ुद कमाती हूँ। परंतु शिविर में आते समय मुझे अनुमति लेनी पड़ी और साथ ही ताने भी सुनने पड़े कि मैं भाग रही हूँ और अगर ऐसे शिविरों में जाना है तो अपना अलग देख लेना होगा रहने का। उन्होंने ये बातें मुझे आते समय कहीं थीं रेलवे स्टेशन पर।

आचार्य प्रशांत : किसने बोला?

प्रश्नकर्ता : मेरे पिताजी ने।

आचार्य प्रशांत: ठीक।

प्रश्नकर्ता : मैंने भी उनसे बोला कि “हाँ, ठीक है”।

आचार्य प्रशांत: ठीक है। तुम अपना सेपरेट देख लो—ओके। और क्या? ओके, देख लो। अगर धमकी दे पा रहे हैं तो निश्चित रूप से उनकी समझ ये है, उनका अनुभव ये है, उनकी परख ये है, कि किसी-न-किसी रूप में आश्रित हो। धन के लिए नहीं आश्रित हो तो पहचान के लिए आश्रित हो। किसी-न-किसी प्रकार का अवलंबन है ज़रूर। कोई सहायता ली होगी, कोई सुरक्षा ली होगी, घर लिया होगा, रहने का ठिकाना लिया होगा, पहचान ली होगी, सामाजिक प्रतिष्ठा ली होगी, कुछ तो लिया होगा। नहीं तो दुनिया में कोई किसी पर कैसे धौंस बता देगा? जिससे तुम्हारा कोई लेना-देना नहीं, तुम उसके ऊपर नहीं चढ़ सकते। जब आप लोग मजबूरियों का हवाला देते हो, किसी भी तरीके की, तो उसमें एक बात हमेशा छुपा जाते हो कि किस तरीके से आप आश्रित हो। और जो आश्रित है, वह अपना फायदा तो निकाल ही रहा है न। जब दूसरे से अपना फायदा निकाल रहे हो, तो दूसरा फिर

तुम्हें अपने इशारों पर नचाए या तुम्हारे जीवन पर दबाव बनाए, तो तुम्हें ताज्जुब क्यों होता है? और अगर तुम आश्रित नहीं किसी पर तो कोई तुम पर दबाव बना नहीं सकता।

अगर तुम्हारे जीवन में भय है, दबाव का अनुभव है, पाते हो कि दूसरों के समक्ष मजबूर हो जाते हो, तो तलाशों कि किस तरीके से तुम दूसरों पर आश्रित हो। आश्रित नहीं होते तो कोई तुम्हारे ऊपर हुक्म नहीं चला सकता था और अपनी आश्रयता को जितना कम करोगे, मुक्ति उतनी गहराएगी। और क्या होती है मुक्ति?

जिसका रोटी, कपड़ा, मकान, खाना-पीना, नाम, पहचान सब दूसरों से आता हो, उसका परमात्मा से क्या लेना देना? तुझे तो जो कुछ मिल रहा है, वह कभी इससे मिल रहा है, कभी उससे मिल रहा है, कभी उससे मिल रहा है, कभी उससे मिल रहा है, तू पचास चीजों के लिए पचास लोगों पर अवलंबित है, परमात्मा से क्या लेना देना, सत्य से क्या लेना देना? सत्य सिर्फ उसके लिए है जो किसी के सहारे न खड़ा हो; जिसको सिर्फ उसका *(ऊपर की ओर इशारा करते हुए)* सहारा हो। और अगर तुम्हारे पास पचास सहारे हैं, तो तुम दो तरफा नुकसान भुगतोगे। पहली बात तो यह कि जो तुमने जो पचास सहारे खड़े किए हैं, ये तुम्हें कुछ भी मुफ्त नहीं देने वाले। यह तुम्हें जो कुछ भी देंगे, उसकी कीमत दोगुनी वसूलेंगे। दूसरी बात, अगर तुम दुनिया के सहारे हो तो उसके *(ऊपर की ओर इशारा करते हुए)* सहारे से चूक जाओगे। दोनों तरफ से मारे गए तुम।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, लेकिन यह हर नौकरी में ऐसा है।

आचार्य प्रशांत : क्योंकि तुम्हें हर जॉब में जाकर किसी-न-किसी पर टिक जाना है।

प्रश्नकर्ता : छोटी नौकरी भी होगी, तब भी हो जाता है।

आचार्य प्रशांत : कम-से-कम निर्भर रहो। और मैं जब कह रहा हूँ कि निर्भर मत रहो तो मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि जाकर लड़ लो सब से। ये अर्थ नहीं लगा लेना कि, "अब हमें किसी पर निर्भर नहीं रहना है, लठ कहाँ है!" निर्भर न रहने का अर्थ है कि ये नहीं होना चाहिए कि कोई तुमसे बोले की, "मैं तेरी जिंदगी से जा रहा हूँ, या तुझे अपने घर से बेदखल कर रहा हूँ", और तुम्हारी साँस ऊपर-की-ऊपर, नीचे-की-नीचे रह जाए। दिल लगे कि छाती से बाहर कूद आएगा।

किसी को अपने अंतरजगत पर स्वामित्व मत दे दो कि बैठे हो—बैठे हो और फोन में दो-चार नंबर ऐसे हैं कि अगर वहाँ से कॉल आ गई तो उछल पड़ते हो कि, "अरे बाप रे! अब क्या होगा?"। कोई इतना तुम्हारे लिए भारी न हो जाए, इतना महत्वपूर्ण न हो जाए। गहरे-से-गहरा, बड़े-से-बड़ा महत्व सिर्फ एक को दो, बाकी सब ठीक है। बाक़ियों से कोई लड़ाई

झगड़ा नहीं करना है—न काहू से दोस्ती न काहू से बैर। बाकियों से तो व्यवहारिक रिश्ता है; आत्मिक रिश्ता एक से है।

अगर तुम्हें पता होता है कि तुम नहीं निर्भर हो किसी पर, तो तुम्हें लड़ना इत्यादि नहीं पड़ता, दुनिया खुद ही तुमसे ज़रा संभल कर रहती है। कोई खुद ही नहीं तुमपर धौंसपट्टी करने आता है। जिसको तुम कुछ दे नहीं रहे हो, बताओ, उसपर धौंस कैसे चलाओगे? सड़क पर एक आदमी चला जा रहा है, उसका तुम कॉलर पकड़कर बोलो, "आज से मेरे घर मत आना!" वो एकदम अवाक, "मैं तेरे घर आता कब हूँ?" उसी से तो कुछ छीनोगे न, जिसको तुमने कुछ दिया है? किसी से कुछ लो ही मत, तो छीनने का भय भी नहीं रहेगा। और अगर किसी से कुछ लो, तो फिर उसे समुचित तरीके से लौटा भी दो—एहसान मत रखो अपने ऊपर। क्योंकि एहसान जैसा कुछ होता नहीं। तुमने अगर किसी से पाँच इकाइयाँ ली हैं और लौटाई दो ही इकाइयाँ हैं, तो बाकी तीन भी तुम लौटाओगे, सूद समेत, छुपे हुए तरीकों से।

ये दुनिया, इतनी बड़ी दिलवाली नहीं है कि ये किसी को कुछ भी मुफ्त दे दे। मुफ्त सिर्फ एक दरबार से आता है, ऊपर से। इस दुनिया से तो जो कुछ भी मिलेगा, उसे सूद समेत लौटाना पड़ेगा। तो ज़रा सोच समझ के, संभल के ग्रहण किया करो। इतनी आतुरता में न रहा करो कि कुछ मुफ्त मिल रहा है और जाकर के ले आए। कुछ नहीं मुफ्त मिलता यहाँ। और, देखते नहीं हो, मुफ्ती का लालच दिखाकर कैसे लूटा जाता है तुमको? मुफ्त, मुफ्त, मुफ्त—पहुँच जाते हो और फिर पता चलता है, मुफ्त तो कुछ होता ही नहीं। बल्कि उसको अपना सगा मानना जो तुम्हें चीजों के सही दाम बता दे। जो बोले कि मुफ्त दे रहा हूँ, उससे ज़रा बचकर रहना। क्योंकि मुफ्त कोई कुछ नहीं देता। कहीं ज़्यादा भला वह आदमी है जो तुमको पहले ही बता दे कि फलानी चीज़ है जिसका इतना दाम है, साफ-साफ भाई तुम्हें पहले ही बता देते हैं कि इतना दाम है—खुली किताब है, साफ सौदा है। जहाँ साफ सौदा हो, उधर को जाना। लेकिन याद रखना, दुनिया में होते सौदे ही हैं, अनुग्रह सिर्फ ऊपर से आता है।

जितना लिया हो, कम-से-कम उतना लौटाओ, और हो सके तो उससे ज़्यादा लौटा दो। अपने दामन पर दाग मत लगने दो। किसी का ज़रा भी कर्ज अपने ऊपर मत रखो, अगर आज़ादी प्यारी हो तो। और नहीं तो अगर, इस-उस के, जिस-तिस के दबाव में और भय में जीना है, तो दुनिया भर से लिए चलो। इसीलिए, अध्यात्म सिखाता है कि बालकों, अपनी माँगे और ज़रूरतें कम रखो। जितना माँगोगे, उतना ज्यादा बंधन में जीना पड़ेगा। और समस्त अध्यात्म का लक्ष्य क्या है? मुक्ति। तो, तुम्हारी माँगे, मुक्ति के रास्ते में बाधा बन

जाती हैं। कम-से-कम माँगों, ताकी मुक्ति आसान रहे। इसलिए, सादगी पर, सरलता पर, मितव्ययिता पर इतना ज़ोर रहता है अध्यात्म में।

जो तुम पढ़ते हो न कि फकीर दो कपड़ों में काम चला लेते थे—एक लोटा, एक टाठी, एक डंडा—ज़िंदगी चल जाती थी। वैसा नहीं था कि वो इससे ज़्यादा कमा ही नहीं सकते थे। बेशक कमा सकते थे। ज़रूरतें बढ़ाएँगे तो खुद ही फसेंगे। मैं तुमसे नहीं कह रहा हूँ कि तुम्हारे पास एक थाली और एक लोटे के अलावा कुछ नहीं होना चाहिए, बस इतना समझा रहा हूँ कि सतर्क रहना, कि कितना माँग रहे हो दुनिया से। दुनिया किसी की नहीं होती। जो जितना मांगता है, उसको उतना लूटती भी है फिर।

प्रश्नकर्ता : मुझे तो जानकर दे देते हैं कि ले लो।

आचार्य प्रशांत: अरे बाप रे! ये तो बड़े-से-बड़ा धोखा होता है। "जानेमन बस ले ही लो ये हार, तुम्हारे लिए लाए हैं, बड़े प्यार से", अब दी जा रही है 'प्यार की दुहाई' लेकिन जैसे ही मौका आता है 'तकरार' का, वैसे ही तुरंत याद दिलाया जाता है, "वो हार, जो घूम रही हो न पहनकर, साढ़े-छह लाख का है"। और दिया कैसे गया था? "जानेमन तू ले ले, और तू नहीं लेगी तो दिल टूटेगा मेरा, मेरे लिए ले ले जानू!"

प्रश्नकर्ता : बात तो ऐसे ही करते हैं मेरे साथ।

आचार्य प्रशांत: और तुम्हें कुछ समझ में नहीं आता?

प्रश्नकर्ता : मुझे बाद में लगता था कि ये पंगे में फँस गया मैं।

आचार्य प्रशांत : अरे! तुम तो गोलू हो बिलकुल।

प्रश्नकर्ता : मैं सही बोल रहा हूँ, आपके सामने क्या छुपाना, यही तो समस्या है, इसी को तो ठीक करना है।

आचार्य प्रशांत : मुफ्त में भी हार मिल रहे हों तो सावधान रहना, वह उस वक्त मुफ्त में दिया जा रहा है, बाद में सब गिना जाएगा। और सब कुछ सूद समेत वापस करना पड़ेगा, सब चुकाओगे। ऐसे नहीं चुकाओगे तो वैसे चुकाओगे।

प्रश्नकर्ता : वो मैं चुका भी रहा हूँ।

आचार्य प्रशांत : और जिन्हें सूद चाहिए होता है, वो तो बहुत उत्सुक रहते हैं देने के लिए। जो सूदखोर हो, जो साहूकार हो, जो कैपिटलिस्ट हो—उसके लिए ये बड़ी भयानक स्थिति होती है, अगर उसका पैसा खाली पड़ा हुआ है। वो तो चाहता ही है कि किसी-न-किसी को

दे दूँ क़र्ज़ पर। उसको कहता है फिर कि “अब पैसा इन्वेस्ट हो गया। अब उस पैसे पर सूद आने लगेगा। अब ब्याज आने लगेगा।” तो वह तो तुम्हारा सत्कार कर के, तुमसे आग्रह कर के कहेगा कि, “ले लो, ले लो, ले लो, ले लो”। और जब ‘ले लोगे’, तो फिर तुमसे माँगेगा ब्याज, कि, “चलो, ब्याज दो”। ले मत लेना।

प्रश्नकर्ता : अब आगे से नहीं लूँगा।

आचार्य प्रशांत : बस! बाजार को देखा करो, सब वहीं से सीख सकते हो। बेचने वाला हमेशा क्या कहता है?—“अभी ये ले जाइए, बाद में देते रहिएगा”। ऐसा ही होता है न? “अभी आप ले जाइए बस। आपकी ही दुकान है, बाद में देते रहिएगा।” बस एक बार तुम ले लो, उसके बाद देखो। अब उसको पता है कि तुमने वस्तु से नाता जोड़ लिया है, अब चीज़ से तुम्हारा मोह हो गया है, अब वो तुम्हारा स्वामी है, अब पेलेगा। कोई कितना भी लुभाए, कुछ भी करे, अपनी ज़रूरतें कम-से-कम रखो। बड़े बूढ़े बता गए हैं—“संतोषम परमम सुखम”। शिव को बोलते हैं ‘आशुतोष’—जल्दी से थोड़े में संतुष्ट। बहुत चाहिए ही नहीं। और कोई ज़बरदस्ती तुम्हारे सर पर बहुत मूंड ही जाए, रख ही जाए, कि लो, तो साफ बता दो कि—“अपनी मर्जी से रख रहे हो, बदले में कुछ मत माँगना”। पहले ही बता दो।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, जब अपनी मर्जी से किसी ने रखा है, जैसे माँ-बाप ने जन्म दे दिया, उस समय तो बोलने के लायक हम थे नहीं, तो अब बोल रहे हैं कि अगर तुम्हें ऐसे ही जाना था तो इतना बड़ा करके क्या फायदा हुआ।

आचार्य प्रशांत : तुम बोलना, “हमने कहा था?”

प्रश्नकर्ता : तो वो पहले की बात हो गई।

आचार्य प्रशांत : हाँ, तो बस यही बोलो। बोलो, “मुझसे पूछ कर तुमने मुझे बड़ा किया था?” बल्कि जब यह दावा किया जाए कि अगर तुम्हें ऐसा ही हो जाना था तो हमने तुम्हें इतना बड़ा क्यों किया, तो, इससे तो उनकी पोल खुलती है। नीयत का पता चलता है कि प्रेम भाव से नहीं बढ़ा कर रहे थे। बछिया दुहनी थी, इसलिए उसे चारा खिलाया जा रहा था। ज़रा बड़ी होगी तो दूध देगी।

प्रश्नकर्ता : आचार्य जी, तुलना बहुत करते हैं कि उनका बेटा ये हो गया, उनका बेटा वो हो गया, तू कहाँ रह गया।

आचार्य प्रशांत : तो बोलो कि, "उनके थे ऐसे बेटे। तुमने क्या किया? किसी फैक्ट्री का माल खराब है तो माल का दोष है या फैक्ट्री का? कमाल है! मैंने थोड़ी ही जना है खुद को, काम

तुम दोनों का, दोष मेरे ऊपर आ रहा है। बल्कि मैं जवाब माँगता हूँ, मुझे ऐसा क्यों पैदा किया?”

प्रश्नकर्ता : बात तो सही है आपकी। कर बहुत कुछ सकता हूँ लेकिन एक सुविधा क्षेत्र में रखा हुआ है खुद को। पर अब यह चीज़ तोड़ूँगा। उनकी वजह से बहाना नहीं करूँगा।

आचार्य प्रशांत : बस यह मत बताना कि शिविर में सीखा था ये सब, अगले में नहीं आ पाओगे।

प्रश्नकर्ता : कृष्ण जी का भक्त हूँ, थोड़ी-थोड़ी चालाकी भी करनी आती है।

आचार्य प्रशांत : बस, यही चाहिए। *(मुस्कुराते हुए)*

१४. सचमुच इतने मजबूर हो कि सुधर नहीं सकते?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, बचपन से जो लोगों ने सिखा दिया है, उसकी वजह से मैं भुगत रहा हूँ। अब क्या करूँ?

आचार्य प्रशांत: देखो, व्यवहारिक होकर देखा करो। किसी की भी गलती हो, भुगत कौन रहा है? जल्दी बताओ। तुम बिलकुल सही जा रहे हो अपनी सड़क पर। और सड़क सकरी है, और तुम पैदल चले जा रहे हो। तभी गलत दिशा से तुम पाते हो कि एक दैत्याकार ट्रक तुम्हारी ओर चला आ रहा है। अब गलती किसकी है? ट्रक वाले की। और तुम कहो कि "मेरी कोई गलती नहीं है, मैं तो नहीं हटूँगा"। मत हटो। भुगतेगा कौन? या गलती का कानून बताओगे? गलती किसकी है? ठीक है, तो जब भिड़ंत होगी तो टाँग भी ट्रक की ही टूटनी चाहिए। तुम्हारी क्यों टूटे?

खोट निकालना दूसरों में बहुत भारी पड़ता है क्योंकि खोट तो तुमने निकाल दी दूसरे की, पर झेल कौन रहा है? ग़लती किसी की भी हो, हमे नहीं पता कि ग़लती किसकी है, पर भुगत कौन रहा है? अगर तुम कहोगे कि ट्रक वाले की गलती है, जैसे तुमने कह दिया कि बचपन से हमें उलटी पट्टी पढ़ा दी गई इसलिए हम भुगत रहे हैं—इसमें हमारी गलती नहीं है, बचपन से हमें जिन्होंने गलत शिक्षा दी है, उनकी गलती है—वैसे ही ट्रक वाला बोल देगा, "मुझे दोस्तों ने ज़बरदस्ती आज पिला दी तो सारी गलती दोस्तों की है। मैं क्यों भुगतूँ?" अंततः गलती किसकी है इसपर तो तुम कभी पहुँच ही नहीं पाओगे। कोई आखिरी निष्कर्ष निकलेगा ही नहीं। हाँ, दूसरों की गलती खोजते-खोजते कष्ट तुम ख़ुद बहुत सह जाओगे। और सुधरने के रास्ते में बड़ी-से-बड़ी बाधा यही होती है कि, "हमारी थोड़े ही गलती है। हमारी गलती नहीं है!"

ट्रक सही दिशा आ रहा हो कि गलत दिशा आ रहा हो, अगर सामने से चढ़ा ही आ रहा हो तुम्हारे ऊपर, तो बराबर की त्वरा से, बराबर की उर्जा से, कूदकर अलग हो जाना। यह मत कहना कि "जब हमारी गलती होगी तब हम झटके से कूदकर अलग हो जाएँगे और जब ट्रक वाले की गलती होगी तो पहले रुके रहेंगे, उसे दो-चार गाली सुनाएँगे, उसे उसकी गलती का एहसास कराएँगे, पुलिस को फोन करेंगे, और फिर हटेंगे"। नहीं साहब, गलती आपकी हो या गलती उसकी हो, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। और अध्यात्म में यह प्रश्न व्यर्थ ही नहीं, घातक हो जाता है क्योंकि ले देकर गलती तो पता ही नहीं चलता कि मौलिक रूप से किसकी है। क्योंकि मौलिक तो मात्र परमात्मा होता है। अंततः तुम गलती खोजते-खोजते यही पाओगे कि कहोगे गलती उसकी है। ल्यो, निकाल लो गलती, क्योंकि सारी श्रृंखलाएँ अंततः जाकर के रुकेंगी तो वहाँ पर न। आखिरी कड़ी तो वही है। तो हर गलती की भी आखिरी कड़ी कौन है? वही है। यह सिद्ध करके तुमने पा क्या लिया कि भूल बनाने वाले (परमात्मा) की है? इससे तुम्हारा दर्द कम हो गया? नहीं, दर्द नहीं कम हुआ। मैं बताता हूँ क्या मिला—दूसरों की गलती निकालने में अहंकार को सुख बहुत मिलता है। दर्द नहीं कम होता पर सुख मिल जाता है।

ऐसा सुख किस काम का जो दर्द कम तो करता ही नहीं बल्कि और दर्द लेकर आता है, बोलो? वाहनों की टक्कर में तो ऐसा खूब होता है। कोई भी आएगा गाड़ी भिड़ाकर के पहला वक्तव्य उसका यह होगा—"नहीं, मेरी गलती नहीं थी"। मैं कहता हूँ फ़र्क क्या पड़ता है इस बात से कि तुम्हारी गलती थी कि उसकी गलती थी?

मैं छोटा था तो पिताजी मेरे मुझे स्कूटर चलाना सिखा रहे थे। बोले, पहला नियम, सड़क पर तुम्हारे अलावा सब अंधे हैं। कभी किसी की खोट मत निकाल देना। लगातार यह मानकर चलो कि तुम्हारे अलावा सब अंधे हैं, इसीलिए बचने की पूरी ज़िम्मेदारी सिर्फ तुम्हारी है। तुम्हारी ही नहीं है, मात्र तुम्हारी है। कभी यह तर्क तो देना ही मत कि वो सामने वाला गलत चला रहा था इसलिए दुर्घटना हो गई। टाँग किसकी टूटी? तुम्हारी टूटी न। तो यह तर्क किस काम का कि मेरी थोड़ी ही गलती थी। यह तर्क तो देना ही मत कि सरकार बड़ी बेकार है, अचानक से गड्ढा आ गया। होगी सरकार बेकार। टाँग किसकी टूटी? तुम्हारी न।

और अध्यात्म में तो सदा गलती निकालना आसान रहता ही है। हम सब जानते हैं कि अहंकार बाहरी प्रभावों से ही पोषण पाता है। तो जैसे ही तुम्हारी कोई खोट उजागर हो, तुरंत कह दो, "नहीं, यह खोट मौलिक थोड़े ही है। यह तो हमारी शिक्षा व्यवस्था की करतूत है। नहीं साहब, हम थोड़े ही बुरे थे, वह तो कुसंगति में पड़ गए, हमारा मोहल्ला खराब था।" गलती लगातार दूसरे की है, और बात तुम्हारी ठीक भी है, गलती तो दूसरे की ही है, पर टाँग किसकी टूटी? मैं फिर पूछता हूँ, वह आया था कुसंगी तुम्हें प्रभावित करने, तुम

प्रभावित हुए क्यों? तो तुम कहते हो, "हम छोटे थे, हमें कुछ पता नहीं था। हम गोलू थे, हम प्रभावित हो गए।" तो मैं पूछता हूँ कि तुम अभी भी गोलू हो? बचपन में बुरी सोहबत का असर पड़ गया तुम पर, अभी क्या उम्र है तुम्हारी? पर रोना चलता रहता है—"हम क्या करें! बचपन में हमें सुख-सुविधा नहीं मिली तो हमें कुछ आता नहीं।" बचपन में नहीं मिली, कितना लंबा बचपन है तुम्हारा?

कितने साल के हो?

प्रश्नकर्ता: तीस साल।

आचार्य प्रशांत: अब क्या कहें, बताओ? तो दुनिया में फिर दो ही तरह के लोग होते हैं: एक—जो परिस्थितियों का, संयोगों का, और दूसरों की गलतियों का रोना रोते रहते हैं। ये हर तरीके से पिछड़ते हैं, ये संसार में भी पिछड़ते हैं और अध्यात्म में तो इनका प्रवेश ही नहीं होता। दूसरे—जो कहते हैं कि बाहर-बाहर जो चल रहा है सो चल रहा है, भीतर तो मेरा साम्राज्य होना चाहिए था न। दूसरे जो कर रहे हैं, वह दूसरे जाने। मेरे साथ कुछ गलत हो तो तभी सकता था न जब मैं उसको सहमति दूँ। दूसरा आया मुझे ज़हर पिलाने, पीना या न पीना किसका निर्णय था? मेरा निर्णय था न। तो मैं दूसरे पर ही दोषारोपण कैसे करता रहूँ? बाहर वाले ने शोर बहुत मचाया, पर उस शोर से कंपित हो जाना है या नहीं, उस ओर से प्रभावित हो जाना है या नहीं, यह निर्णय किसका था?—यह वह आदमी है जो ताकत का वरण करता है। यह वह आदमी है जो अपनी कमज़ोरी का रोना नहीं रोता कि, "मैं क्या करूँ दुनिया ने मेरे साथ बेवफ़ाई कर दी। दुनिया ने अन्याय कर दिया।" वह कहता है, "दुनिया को जो करना था, दुनिया करती रही, और दुनिया का सारा असर होता है मुझपर, पर बाहर-बाहर होता है। भीतर सत्ता मेरी है। तुम्हें जितना शोर मचाना है, बाहर मचा लो। तुम्हें जितने घाव देने हैं, बाहर दे लो। भीतर के मालिक हम हैं।" और इसी बात को ऐसे भी कहा जाता है—भीतर हमारा मालिक बैठा है। बाहर वालों की भीतर कोई पहुँच ही नहीं है। तो वे भीतर उपद्रव कैसे कर लेंगे?

अगर तुम पहली कोटि के आदमी हो तो मैं तुमसे कह रहा हूँ—तुम दुर्बलता के समर्थक हो। तुम कमज़ोरी के पुजारी हो। कमज़ोरों को तो दुनिया में ही कुछ नहीं मिलता, बेटा। जो दुनिया के पार है, वह तुम्हें कैसे मिल जाएगा, कमज़ोरी के साथ? और ताकत का पहला प्रमाण होता है कि आदमी कहता है कि मेरे भीतर मेरी हुकूमत चलती है।

दोष का कोई अंत नहीं होता; तुम देते जाओ दोष। खतरनाक बात जानते हो क्या होगी? तुम जो दोष की कहानी सुना रहे होगे, वह कहानी सही भी होगी। तो मैं यह बिलकुल नहीं कह रहा हूँ तुमसे कि तुम अगर कह रहे हो कि दोष दूसरों का है तो तुम गलत कह रहे हो।

तुम गलत नहीं कह रहे हो। मैं बस तुम्हारी सारी कहानी के बाद एक सवाल पूछता हूँ—टाँग किसकी टूटी? निश्चित रूप से दोष उस ट्रक ड्राइवर का था जो गलत दिशा से लेकर के भगा आ रहा था। तुमने ठीक कहा, दोष दूसरों का है। माँ ने गलत तालीम दी, शिक्षकों ने उल्टे संस्कार दे दिए, टीवी और मीडिया ने मन को भ्रष्ट कर दिया। सारा दोष दूसरों का है—बात तुमने बिलकुल ठीक बोली। पर टाँग किसकी टूटी? तो या तो दूसरों को दोष देते रहो या कह दो कि दोष किसी का हो, अंततः जीवन मेरा है तो ज़िम्मेदारी भी मेरी है, भाई।

तो इन दो लोगों में अंतर करना आ रहा है न? पहले आदमी को सुख मिलता है दूसरों की खोट निकालने में। और दूसरा आदमी प्रेमी है, उसमें जीवन के प्रति प्रेम है। वह कह रहा है खोट निकालकर क्या मिलेगा? मेरा स्वास्थ्य ज़रूरी है। मेरी टाँग नहीं टूटनी चाहिए। और पहला आदमी कहता है कि टाँग मेरी भले टूट गई हो लेकिन मज़ा बहुत आया। अब मैं टूटी टाँग दिखा-दिखा कर ऐलान करूँगा कि, "देखो, गलती दूसरे की है और यह रहा सबूत। मेरी टूटी टाँग इस बात का सबूत है कि गलती दूसरों की है।" इस आदमी को अपने से कोई प्रेम नहीं है, यह अपनी टाँग तुड़वाने को तैयार है ताकि दूसरों को गलत साबित कर सके। भाई, टूटी टाँग दिखाकर जब तुम जाओगे अदालत के सामने तो उस ट्रक ड्राइवर को सज़ा ज़्यादा मिलेगी। यही तुम कूद गए होते, ट्रक के सामने से अपना बचाव कर लिया होता, तब तो कोई कोर्ट-कचहरी-अदालत होती ही नहीं। ट्रक अपना झूमता हुआ निकल गया होता। पर तुम तो आ गए ट्रक के नीचे, टाँग गई टूट, अब चलेगा मुकदमा—"अब चखाएँगे बच्चू को मज़ा! और एक जगह से टूटती हो टाँग तो तीन जगह से टूटे, क्योंकि जितनी टूटी होगी टाँग, उतनी ज़्यादा इसको सज़ा मिलेगी।" इस आदमी को अपने स्वास्थ्य से कोई प्रेम नहीं है। इसको ज़्यादा मज़ा आ रहा है दूसरे को नीचा दिखाने में, दूसरे को सज़ा दिलवाने में। अब तुम चुन लो कि इन दोनों में से कौन-सा आदमी होना है तुमको।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अगर कभी ट्रक पीछे से आकर के ठोक दे?

आचार्य प्रशांत: जितनी बार आगे से ठोक रहा है पहले तुम उससे बच लो। अभी भी जो तर्क है वह टाँग तुड़वाने के ही पक्ष में है। पहले उतना तो बच लो जितना तुम्हारी सामर्थ्य में है।

सन्नाटा पसरा हुआ है। टाँग किसी को नहीं बचानी। ट्रक वाला जेल जाना चाहिए, वह ज़्यादा ज़रूरी है।

इस बात को आगे बढ़ाते हैं। आदमी का चित्त ऐसा क्यों है कि उसे दुःखी हो जाना मंज़ूर है, स्वस्थ रहना नहीं? इन्होंने कहा न, "हमारा चित्त अपने ही ऊपर दर्द क्यों आरोपित करता

है? हम ख़ुद को ही दर्द देने में इतना यकीन क्यों रखते हैं?", चलो, अब इसी बात को ऐसे ही देख लेते हैं।

जो स्वस्थ होता है, अक़्सर उसे ज़िम्मेदारियाँ मिलती हैं। और जिसकी टाँग टूटी होती है, अक़्सर उसे कम-से-कम शारीरिक रूप से आराम और दूसरों का ध्यान मिलता है। और हमारे साथ यह बड़ी बदनसीबी है कि हमें यह हक है कि हम पीड़ा को, दर्द को स्वास्थ्य के ऊपर तवज़्ज़ो दे सकते हैं। और हमारे पास कारण होते हैं। घटिया काम करके तुम दूसरों को जितना आकर्षित कर सकते हो, उतना तुम सहज और स्वस्थ रहकर नहीं कर पाओगे। तुम घर में घुसो और तुम मस्त-मग्न हो, कौन तुम्हारी ओर देखेगा? और तुम घर में घुसो और टाँग टूटी हुई है, और खून बह रहा है, तो घर क्या, पूरा मौहल्ला इकट्ठा हो जाएगा। और यह बात तुमने पकड़ ली है बचपन से। तुम शांतिपूर्वक अपनी बात कहो, कौन ध्यान देगा? तुम घर में तोड़फोड़ करनी शुरू कर दो, फिर देखो।

ख़ुद को पीड़ा देने के मज़े होते हैं बहुत। और यह बात बच्चे बखूबी जानते हैं। बच्चे तक बखूबी जानते हैं! ध्यानाकर्षण की पुरानी विधि है—"हम खाना नहीं खा रहे"। तुम खाना नहीं खा रहे? इस विधि का सदुपयोग भी किया गया है पर दुरूपयोग भी खूब किया गया है। क्रांतिकारियों ने जेलों में अनशन करे थे। वो अनशन किसी ऊँचे उद्देश्य के लिए थे—"हम खाना नहीं खा रहे"। लेकिन घर-घर में अनशन होते हैं—"तुमने मेरी माँ को कुछ बोल दिया, खाना नहीं बनेगा आज"।

एक ऐसा मन चाहिए जो किसी भी हालत में सहजता को और स्वास्थ्य को पीड़ा से ज़्यादा ऊँचा समझता हो, वरीयता देता हो। यह बहुत ही ज़्यादा कमज़ोर और रोगी चित्त की निशानी है कि उसे रोगी होना पसंद ही आने लगता है। वास्तव में रोगी होना एक तरह की शर्म की बात होनी चाहिए। सूरमा तो ऐसा चाहिए जो रोगी हो भी तो अपनेआप को रोगी घोषित न कर दे क्योंकि उसको पता है रोग बाहर की बात है। वह बीमार है भी तो वह अपने मुँह से कहना पसंद नहीं करेगा कि मैं बीमार हूँ। और एक दूसरा चित्त होता है जो तैयार ही बैठा होता है घोषित करने को कि मैं तो बीमार हूँ, मैं परेशान हूँ। यह कमज़ोर और दुर्बल चित्त की निशानी है। इसको दुर्बलता से और रोग से ही मोह हो गया है क्योंकि दुर्बलता के फ़ायदे हैं, मोह के फ़ायदे हैं।

मैं आपसे बस यही निवेदन कर रहा हूँ कि दुर्बलता के और रोग के तो फ़ायदे हैं, वह फ़ायदे आपने अनुभव भी किए होंगे, लेकिन स्वास्थ्य का मज़ा ही दूसरा है। अस्पताल में रहते हो तो ध्यान मिलता है दूसरों का और सहानुभूति मिलती है। मिलती है न? और अगर अस्पताल में ही फँस गए हो तो हो सकता है मुफ़्त की भी कुछ चीज़ें मिलने लग जाएँ। कोई

कुछ रुपए पैसे दान कर दे, कोई आकर के सिरहाने फल रख जाए। पर इन सब चीज़ों के लिए क्या तुम खेल का मैदान छोड़कर के अस्पताल में भर्ती होना चाहते हो, बोलो?

खेद की बात यह है कि बहुत बड़ी तादाद है ऐसे लोगों की जो सहानुभूति के लिए, दान के लिए, और मुफ़्त के फलों के लिए अस्पताल में भर्ती होने को तैयार हो जाते हैं। तुरंत उनकी ज़बान से निकलने को तैयार रहता है, क्या? "मैं बीमार हूँ"। मत कहो जल्दी से कि तुम बीमार हो। मैं तुमसे कह रहा हूँ कि जब शरीर बीमार हो भी, जब मन बीमार हो भी, तब भी मत कहो जल्दी से कि बीमार हूँ।

निरामय होना स्वास्थ्य है तुम्हारा। उपनिषद तुम्हारी यही पहचान बताते हैं, क्या? अनामय हो, निरामय हो। तुम वो हो जिसे कभी कोई रोग लग ही नहीं सकता। फिर इतनी जल्दी से क्यों कह देते हो कि शरीर के रोगी होने से तुम भी रोगी हो गए? जहाँ तुमने जल्दी से स्वीकारा कि "मैं परेशान हूँ", कि "मैं रोगी हूँ", कि "मैं दुर्बल हूँ", तहाँ तुमने एक झूठी पहचान पकड़ ली। शरीर रोगी होता है न, अपनेआप को रोगी कहकर तुमने क्या पहचान पकड़ ली? कि शरीर हो तुम। और यह पहचान झूठी है, झूठी पहचान तुम्हारे काम नहीं आ सकती। कृपा करके दुर्बलता के पक्षधर मत बनो।

पूरा आध्यात्मिक साहित्य, खासतौर पर वेदांत, अगर किसी एक शब्द में समा जाता है, तो वह शब्द है— निर्भयता; वह शब्द है—ताकत। अध्यात्म का तो मतलब ही है—बल। दुर्बलता की बातें करोगे तो अध्यात्म में क्या जगह है तुम्हारी? लोग छोटे-मोटे तरीके से सकारात्मक होने की बात करते हैं—'पॉजिटिविटी'। वह सब बड़ी छोटी-मोटी पॉजिटिविटी है। अध्यात्म सबसे बड़ी सकारात्मकता है—'द ग्रेटेस्ट पॉजिटिविटी'।

अध्यात्म जानते हो क्या बोलता है तुमसे? कि तुम मर भी गए, तब भी तुम बीमार नहीं हो। यह तो छोड़ दो कि तुम जब बीमार हो, तब तुम बीमार नहीं हो; तुम मर भी गए तो भी तुम बीमार नहीं हो सकते क्योंकि तुम वह हो जिसकी मृत्यु नहीं। जिसकी मृत्यु नहीं, वह क्या बोल रहा है? मैं बीमार हूँ। क्यों? क्योंकि उसे चिथड़ों का लालच हो गया है। कौन से चिथड़े? बीमार होने में जो सुख मिलता है। राजा चिथड़ों के लालच में अपनेआप को भिखारी घोषित कर रहा है। भिखारी बन गया तो क्या मिलेंगे? चिथड़े मिलेंगे न, चिथड़े। तो यह बात कितने गौरव की लग रही है, बोलो? राजा को चिंदिओ का, चिथड़ों का लालच हो गया है। और राजा के पास तो चिंदी और चिथड़े होते नहीं, तो चिंदी-चिथड़े होने के लिए उसे क्या बनना पड़ेगा? भिखारी। चिंदी-चिथड़ों के लिए राजा बार-बार कह रहा है, "मैं तो भिखारी हूँ"। वैसे ही तुम बोलते हो, "मैं तो रोगी हूँ; मैं तो कमजोर हूँ; मैं तो छोटा हूँ; मुझे तो समाज ने उत्पीड़ित कर रखा है; मैं तो अतीत का मारा हुआ हूँ"।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अपने देश में ख़ासकर जो कॉरपोरेट ऑफिसेस हैं, वहाँ तो जो बीमार चित्त नहीं है, उससे बहुत चिढ़ने लग जाते हैं।

आचार्य प्रशांत: वो चिढ़ने लग गए। टाँग किसकी टूटी?

प्रश्नकर्ता: उनकी टूटी।

आचार्य प्रशांत: अगर उनकी टूटी तो तुम क्यों परेशान हो? बात यह है कि उनकी चिढ़ के कारण तुम अपनी टाँग तुड़वा लेते हो। तुम कहते हो कि, "अगर मैं स्वस्थ हूँ तो लोग मुझसे ईर्ष्या करते हैं। लोग कहते हैं इसको देखो, इसको तो कोई तकलीफ ही नहीं है।" और जो तुमसे ईर्ष्या करेगा, वह तुम्हें हानि भी देगा, तुम्हारा नुकसान करने की कोशिश करेगा। तो तुम कहते हो कि कहीं नुकसान न हो जाए तो चलो मैं भी दुर्बल ही रहा आता हूँ। तो उनकी चिढ़ के कारण टाँग किसने तुड़वा ली? तुमने। अरे भाई, उनकी रज़ामंदी या उनकी दोस्ती इतनी बड़ी बात है क्या कि उसके लिए तुम अपनेआप को आत्मा से ही दूर कर दो? जो हो नहीं, वह बन जाओ? फिर वही बात है न कि चिथड़े इतने आकर्षक लगे कि राजा ने कहा —"मैं तो भिखारी हूँ। क्या चिथड़े हैं! हीरे-मोती तो रोज़ ही रहते थे; बड़ा बाहुल्य है। ये चिथड़े पहली बार देखे हैं। क्या खुशबू उठती है!"

मालूम है, कुछ होता है हमारे भीतर जो गंदगी का बड़ा आग्रही होता है, उसे गंदगी से बड़ा मोह होता है—उससे बचना चाहिए। और वह सबके भीतर होता है; वह जन्मजात है। तुम पैदा हुए, तुम्हारे साथ वह भी पैदा हुआ। उसको मल ही सुहाता है। मुझे तो अपने ही बचपन से एक घटना याद है। कहीं पर घूमने-घामने गए थे। मैं बहुत छोटा था, तीन वर्ष या पाँच वर्ष का कुछ रहा होऊँगा। तो जहाँ मिलने गए थे, वहाँ पर उन्होंने लाकर सामने तश्तरी में काजू, बादाम, किशमिश, यह सब रख दिए खूब सारे। और मैं छोटा था, गोल-मटोल। मैंने दमादम-दमादम खाना शुरू कर दिया तो माँ ने आँख दिखाई। बोलीं, "जो कुछ भी रखा है उठाना मत, बहुत हो गया"। मैंने कहा "ठीक, जो कुछ भी रखा है उठाना मत"। जिनसे मिलने गए थे, उनकी एक बिटिया थी छोटी। वह खाए जा रही थी, मैं उसको देख रहा हूँ कि यह तो खाए जा रही है। वह खाए तो उसका कुछ गिर जाए ज़मीन पर। मैंने कहा, "यही तो कहा गया है, जो ऊपर है वह नहीं खाना तो जो-जो गिरा है, वह मैंने बीन-बीन कर उठाना शुरू कर दिया और फाँकना शुरू कर दिया"। फिर घर आकर मेरा जो हुआ सो हुआ लेकिन वह दृश्य बड़ा नाटकीय था; अ ड्रमेटिक एक्सपोज़िशन ऑफ़ सम डीप फैक्ट *(कुछ गहरे तथ्यों की नाटकीय अभिव्यक्ति)* । बच्चा गिरी हुई चीज़ को बीन-बीन कर खा रहा है। हमारे भीतर कुछ है ऐसा जिसको गिरी हुई चीज़े बहुत पसंद है।

प्रश्नकर्ता: फ़कीर को बासी रोटी।

आचार्य प्रशांत: वह यह नहीं कहता कि मुझे ताज़ी रोटी दोगे तो नहीं खाऊँगा। उसको बासी ही मिलती है और बासी में मग्न है, उसको ताज़ी से इनकार नहीं है। हमारे भीतर कुछ ऐसा है जिसको ताज़ी रोटी से इनकार है और जिसको बासी में रस मिलता है। जो कहना ही चाहता है कि मैं तो शिकार हूँ, मैं तो शोषित हूँ, मैं तो विक्टिम हूँ, मेरे साथ तो गलत हुआ है।

लोग आते हैं मिलने। इससे पहले कि अपनी समस्या बताएँ, लंबी अपनी कहानी बताएँगे कि कैसे बचपन से ही उनका उत्पीड़न हुआ। “माँ ठीक नहीं थी, बाप ठीक नहीं था, छोटे कस्बे में पैदा हुए तो पढ़ाई ठीक नहीं हुई, फिर बचपन में कोई बुरी घटना घट गई मेरे साथ, फिर जिस क्षेत्र की पढ़ाई करना चाहते थे उसकी अनुमति नहीं मिली तो किसी दूसरी कॉलेज में धकेल दिए गए”—और यह सब बताने के बाद कहेंगे कि, “अब न, एक छोटी सी समस्या है”। क्या? “मैं बड़ा धूर्त हूँ”। सीधे-सीधे इसपर क्यों नहीं आते कि तुमने धूर्तता का वरण किया है, चुनाव किया है? तुम इतनी लंबी कहानी सुना ही इसीलिए रहे हो ताकि तुम ज़ायज़ ठहरा सको अपनी धूर्तता को, ताकि तुम कह सको कि धूर्त होना मजबूरी-वश हुआ। “मेरे साथ इतनी घटनाएँ घटीं कि अंततः मुझे धूर्त हो जाना पड़ा”। फ़िल्मों में होता है न? नायक का भोला-भाला मासूम बाप मार डाला जाता है, माँ के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, बहन का बलात्कार हो जाता है; पुरानी हिंदी फ़िल्में। और फिर निर्दोष नायक बंदूक उठा लेता है, दनादन फिर बरसती हैं गोलियाँ।

चैन, स्वास्थ्य और आंतरिक बल तुम्हारे लिए इतनी बड़ी चीज़ होने चाहिए कि तुम उनपर कभी आँच न आने दो—इतनी बड़ी चीज़। तुम्हें ताकत से इतना प्यार होना चाहिए कि अपनी असफलता और हार के बड़े-से-बड़े क्षण में भी तुम यह न कहो कि हार गया और टूट गया। जो ताकत का प्रेमी नहीं, वह परमात्मा का प्रेमी नहीं। जो बार-बार अपनी कमज़ोरी का रोना रोए, वो शैतान का भगत है।

सारी तपस्या का उद्देश्य ही यही होता है, समझिएगा, कि तुम जान सको कि तुम में कितनी ज़्यादा ताकत है। तपस्या होती ही है इसीलिए। तपस्या समझ लो एक तरह से प्रयोग होता है कि देखें तो सही कि हम में जान है कितनी है। हम कितना झेल सकते हैं। अब उस झेलने में कष्ट तो हो रहा है लेकिन कुछ ऐसा नया तुम्हारे सामने खुल रहा है कि बड़ा आनंद आ रहा है। क्या खुल रहा है तुम्हारे सामने? तुम्हारी ताकत का नज़ारा खुल रहा है तुम्हारे सामने।

तुम्हें लगता था कि तुम एक सीमा से ज़्यादा झेल नहीं पाओगे, और तुम पा रहे हो कि तुम उस सीमा को कब का पार कर गए और अभी भी बर्दाश्त कर सकते हो। दर्द की सीमा को पार कर गए हो अगर तो दर्द तो खूब हो रहा होगा लेकिन दर्द जितना बुरा लग रहा है, उससे

ज़्यादा, कहीं-कहीं ज़्यादा अतुलनीय आनंद आ रहा है यह जानकर कि मैं कितना ताकतवर हूँ कि इतना दर्द भी पी गया। दर्द से बचने में होगा कोई मज़ा, दर्द को जीत जाने में जो महा आनंद है, अगर तुमने वह नहीं पाया तो तुम जी क्यों रहे हो?

जी रहे हो तो दर्द तो होगा। तुम्हें और अपने ऊपर दर्द डालने की बहुत ज़रूरत भी नहीं है। बात यह है कि दर्द के बीचों-बीच तुम दर्द से अछूते हो या नहीं हो। जितना दर्द तुम झेल रहे हो, तुम पहले उसी से वाकिफ़ हो जाओ। तुम्हें अतिरिक्त दर्द नहीं चाहिए। जानते हो, हमने अपने भीतर कितनी पीड़ा छुपा रखी है? तुम पहले उसी से रू-ब-रू हो जाओ। अपने को और ज़्यादा पीड़ित करने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि शायद तुम पीड़ा के बड़े ऊँचे शिखर पर पहले ही बैठे हुए हो। लेकिन तुम अपनेआप को कमज़ोर मानते हो इसीलिए पीड़ा का सामना करने से डरते हो। तुम्हें लगता है कि इतना दर्द अगर देख लिया तो कहीं टूट न जाएँ। जो कुछ तुम्हें सता रहा है उसके सामने खड़े हो जाओ; तुम बहुत मजबूत हो, तुम नहीं टूटोगे। हाँ, कुछ अगर टूटेगा तो वो तुम्हारी कमज़ोरी होगी। कमज़ोरियाँ टूटेंगी तुम्हारी, तुम नहीं टूटोगे। बड़ा झटका लगेगा—“हम में इतनी ताकत थी? अरे! हम ये भी कर सकते थे, हम ऐसे हैं?”

अपने किसी नए ही स्वरूप से परिचित हो जाओगे।

१५. जीवन के सुख-दुःख क्या भाग्य पर निर्भर करते हैं?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, पिंगला गीता में श्लोक क्रमांक १८ से २१ से प्रश्न है।

श्लोक कहते हैं:

“संसार में विषयों की तृष्णा से जो व्याकुलता होती है, उसी का नाम दुःख है, और उस दुःख का विनाश ही सुख है। उस सुख के बाद *(पुनः कामनाजनित)* दुःख होता है। इस प्रकार बारम्बार दुःख ही होता रहता है।” (१८)

“सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। मनुष्यों के सुख और दुःख चक्र की भाँति घूमते रहते हैं।” (१९)

“इस समय तुम सुख से दुःख में आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुख की प्राप्ति होगी। यहाँ किसी भी प्राणी को न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही।” (२०)
“यह शरीर ही सुख का आधार है और यही दुःख का भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीर से जो-जो कर्म करता है, उसी के अनुसार वह सुख एवं दुःख रूप फल भोगता है।” (२१)

पिंगला गीता से श्लोक १८ से २१ तक ‘देहाभिमान’ और ‘विषयों में तृष्णा’ की व्याकुलता को ही दुःख का आधार बताया है। आम तौर पर मेरे जीवन के सभी चुनाव शरीर को केंद्र में रख कर ही होते हैं। कृपया देहाभिमान को नष्ट करने की प्रक्रिया बताएँ।

आचार्य प्रशांत: नहीं, नहीं, शरीर किसी का केंद्र नहीं होता। केंद्र तो सबका एक ही होता है, उसका नाम है ‘अहंकार’। ‘अहम’, ‘मैं’ केंद्र होता है। फिर आप उस ‘मैं’ के आगे जो पूँछ बाँधना चाहें, बाँध दें। ‘मैं शरीर हूँ’ कह दें, ‘मैं पदार्थ हूँ’, ‘मैं सुखी हूँ’, ‘मैं दुःखी हूँ’, ‘मैं आत्मा हूँ’—जो कह दें, पर केंद्र तो सदा ‘मैं’ ही होता है—‘मैं’।

अब ये जो 'अहम' है—'मैं'—ये बेचारा बड़ी विचित्र चीज़ है। ये हमेशा कुछ-न-कुछ करता रहता है—बेचैन है, परेशान है। क्यों परेशान है? क्योंकि जैसा हमने कहा, इसकी स्थिति बड़ी विचित्र है—न तो ज़मीन का है, न आसमान का है, न घर का है, न घाट का है। शरीर न हो तो अहम की कोई सगुण साकार सत्ता न होगी। तो अहम कह नहीं पायेगा कि 'मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ' क्योंकि जब भी अहम कहता है कि 'मैं ऐसा हूँ' या 'वैसा हूँ' तो जो 'ऐसा' और 'वैसा' होते हैं, इनका ताल्लुक हमेशा संसार से होता है। संसार माने जो सगुण और साकार है। तो इस अहम को अपनी हस्ती को बचाए रखने के लिए संसार चाहिए ही चाहिए। और संसार है निरा पदार्थ, एकदम जड़, अतिस्थूल। तो अहंकार को स्थूलता चाहिए ही अपनेआप को बचाने के लिए। सिर्फ 'मैं' थोड़े ही बोलता है कभी अहंकार। अहंकार बोलता है न, 'मैं कुछ हूँ'। ये जो 'कुछ' है, ये आमतौर पर कोई बड़ी स्थूल-सी ही चीज़ होती है। तो वो चाहिए अहम को। दूसरी ओर अहम जब वो स्थूल चीज़ से बंध जाता है तो भड़भड़ाता है, परेशान रहता है क्योंकि तलाश उसे किसी अतिशय सूक्ष्म वस्तु की है।

अहम ऐसा है जैसे गैस का गुब्बारा बंधा हुआ है नीचे ज़मीन से। किसी कील में उस ग़ुब्बारे की डोर बाँध दी गयी है या किसी बच्चे के हाँथ में है, आदमी-औरत के हाँथ में है, लेकिन दिशा उसकी आकाश की ओर है। तो एक तनाव रहेगा हमेशा रस्सी में। ज़मीन से उसका नाता तनाव का रहता है। देखा है न, गैस का गुब्बारा जब भी आपके हाँथ में होता है तो डोर में सदा एक तनाव होता है। अहम का रिश्ता संसार से सदा तनाव का होता है, क्योंकि संसार के साथ वो विश्राम में तो बैठ सकता नहीं और जाना उसे ऊपर है, गुब्बारे को। ऊपर वो पहुँच नहीं पा रहा, तो बस ऊपर की ओर मुँह करे बैठा रहता है। ऐसे ही हम हैं। हम भी शान्ति की ओर, किसी आखिरी चैन की ओर, समाप्ति की ओर, मुँह करे लालाहित बैठे रहते हैं। आतुर आँखों से ताकते रहते हैं कि कभी तो वो अंतिम बिंदू आएगा, कभी तो वो घड़ी आएगी जब जी ठंडा हो जाएगा। वो आती नहीं।

तो अहम ऐसा है, नीचे उसके ज़मीन, ऊपर उसके आसमान, बीच में गैस का गुब्बारा, जो बंधा हुआ है ज़मीन से। अब उसकी समस्या ही यही है कि वो बंधा हुआ है, ठीक? नीचे जो चीज़ है, उसके लिए वही उसकी समस्या है —'स्थूलता' का तल। तो आपको अभी तीन तल दिखाई दे रहे होंगे। एक ज़मीन का, जहाँ वो खूँटी गढ़ी है, जिससे गुब्बारा बंधा है। दूसरा तल है गुब्बारे का, जो बीच मे है त्रिशंकु की नाईं। तीसरा तल दिखाई दे रहा होगा आकाश का। ये तीन तल हैं। जो ऊपर है, वो सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म है। जो बीच वाला है, वो धोबी का कुत्ता है। वो फँसा हुआ तल है। थोड़ा नीचे का है, थोड़ा ऊपर का है। हाँ, ये पक्का है कि नीचे वो बंधे रहना चाहता नहीं। और सबसे नीचे जो तल है, वो तो अतिस्थूल है। वो जो अतिस्थूल तल है, उसी को देह कहते हैं, उसी को संसार कहते हैं —देह-मिट्टी, संसार-मिट्टी।

संसार से देह उठती है—दोनों भौतिक हैं, दोनों ही पार्थिव हैं। अब आप समझिए कि बात क्या है। अहम को चैन चाहिए। बेचैनी का कारण ये है कि वो बंधा हुआ है ज़मीन से। अब अगर बेचैनी का कारण ये है कि वो ज़मीन से बंधा हुआ है, तो क्या उसको चैन और ज़्यादा ज़मीन में लोट कर मिलेगा? तो अहम है बीच में, नीचे है देह, ऊपर है मुक्ति। और अहम को चाहिए चैन। उसी चैन को चलिए हम कह देते हैं 'सुख'। जो आखिरी चैन हमें चाहिए, उसको अभी इस वार्ता के संदर्भ में हम कह देते हैं 'सुख'। और सुख पाना कोई अपराध नहीं हो गया। बस मूर्खतापूर्ण सुख पाने की कोशिश अपने प्रति अपराध है। मूर्खतापूर्ण सुख को 'सुख' कहते हैं, और होशियारी से जो सुख पाया जाए, उसी के लिए फिर दूसरा शब्द बनाना पड़ता है—'आनंद'।

अब ये जो बीच में गुब्बरा है, इसको सुख चाहिए। बढ़िया बात है कि सुख चाहिए। सुख पर सबका हक है। सुख में कौन-सी बुराई है, भई? लेकिन जो तुम्हारे दुःख का कारण है, तुम उसी के पास बार-बार जाओ और सोचो कि सुख मिल जाएगा, तो तुम पगले हो। गुब्बारे के दुःख का कारण है—ज़मीन से उसकी जो ज़ंजीर बंधी हुई है। वो उसी ज़ंजीर को बांधे-बांधे ज़मीन में और लोटे, पाँच-सात तरीकों से और अपने लिए बंधन पैदा करे, तो ये पागलपन है। तो इसलिए देहाभिमान बुरा बताया जाता है क्योंकि भाई तुम देह को साधन की तरह इस्तेमाल कर रहे हो, सुख पाने के लिए। जबकि तथ्य ये है कि तुम्हारे दुःख का कारण ही 'देहबद्धता' है। जो तुमको तकलीफ़ दिए जा रहा है, तुम इस आशा में बैठे हो कि उसी के माध्यम से तुम सुख पा लोगे, ये पागलपन है न। इसीलिए मना करा गया है कि इतना शरीर-भाव मत रखो।

शरीर में अपनेआप में कोई बुराई नहीं है, न तुम्हारी अनंतसुख की कामना में कोई बुराई है। बुराई तब है जब तुम ये दोनों को मिला देते हो। जब तुम अपने सुख की पूर्ति की कामना करना चाहते हो देह को साधन बना के, देह को माध्यम बना के—नहीं होगा बाबा! देह के माध्यम से नहीं मिलेगा। तुम्हें जिसके माध्यम से मिलेगा, उसको तुम जानते हो। उसकी ओर तुम वैसे ही मुँह करके खड़े हो। नज़रें तुम्हारी आसमान की ओर है, गुब्बारे हो तुम गैस के। तो सुख तुमको मिलना ऊपर है, और बार-बार तुम लोटने पहुँच जाते हो नीचे—ये पागलपन है, ये मूर्खता है। देह से वो उम्मीद मत रखो जो देह नहीं पूरी कर सकती। देह और अपने नाते को ध्यान से समझो, उसके बाद देह तुम्हारे लिए दुःख का कारण नहीं बनेगी।

आशय क्या है मेरा इससे? तो अब गुब्बारा बेचारा अटका हुआ है। ज़मीन से डोर उठ रही है और उसको बाँधे हुए है, वो आकाश तक पहुँच ही नहीं पा रहा। तो उसको ज़मीन पर आना तो पड़ेगा, पर ज़मीन पर इसलिए आना पड़ेगा ताकि वो नीचे आए और यहाँ जो गाँठ है,

उसको खोल दे। बहुत फर्क है—'नीचे आने' और 'नीचे आने' में; संसार में जीने में और संसार में; ज़माने से एक तरह का सम्बंध रखने में और ज़माने में बस ही जाने में। जो होशियार व्यक्ति होता है, वो भी ज़मीन से ताल्लुक रखता है, पर वो ज़मीन से ताल्लुक इस तरह रखता है कि ज़मीन में उसने अपने लिए जितने भी बन्धन, जितनी भी तकलीफें पैदा कर रखी हैं, उनको वो खोल सके।

सोचिए, गुब्बारा होशियार हो गया और गुब्बारा झुक गया, नीचे आया। गुब्बारे ने कहा, "ऐसे में अगर मैं ऊपर की ओर ही मुँह फाड़े बैठा रहूँगा तो मुक्ति मिलने से रही—तो मैं ज़रा कुछ अकल लगता हूँ"। उसने क्या अकल लगाई? उसने अकल लगाई कि चलो नीचे चलते हैं। नीचे आते हैं, देखते हैं कि डोर बंधी कहाँ हुई है। जहाँ डोर बंधी है, उसको खोल देते हैं, या किसी से सहायता माँग लेते हैं, या कोई औज़ार पकड़ लेते हैं जिसके माध्यम से डोर काटी जाए। कुछ तो करें नीचे जाकर, ऐसे अटके रहने से क्या मिल जाना है?

ये रिश्ता होता है आध्यात्मिक आदमी का दुनिया के साथ। वो दुनिया का इस्तेमाल करता है, दुनिया के पार जाने के लिए। जैसे गुब्बारा ज़मीन को आ रहा हो, ज़मीन से आज़ाद होने के लिए। ये रिश्ता होता है आध्यात्मिक आदमी का जगत के साथ। जगत में रहना है इसीलिए नहीं कि जगत को भोगना है; जगत में रहना है गुप्तचर की तरह, जासूस की तरह, जो दुश्मनों के अड्डे में है और देखे कि चल क्या रहा है। "देखूँगा कि यहाँ कौन-कौन सी तैयारीयाँ हैं मेरे खिलाफ। देखूँगा कि यहाँ किस-किस तरीके से मुझे बाँधा जाता है।"

अब आप समझ ही गए होंगे कि 'धर्म' क्या है। धर्म है जगत को देखना और यह देखना कि किन-किन तरीकों से तुम अबद्ध हो यहाँ पर। पहचान लो जगत की माया को, आज़ाद हो जाओ। यही सम्यक रिश्ता है आदमी का और जगत का।

तुम्हें अंनत सूक्ष्मता चाहिए, वही स्वभाव है तुम्हारा। उसके बिना शांति तो तुम्हें वैसे भी नहीं मिलनी। जिसे अंनत सूक्ष्मता चाहिए हो, वो पागल है क्या कि वो स्थूल में आकर बार-बार चिपके, लोटे? जो तुम्हें चाहिए, अगर उसके विपरीत काम करोगे और उम्मीद रखोगे शांति की, तो उम्मीद कहाँ पूरी होगी? सुख चाहना, मैं दोहरा रहा हूँ, कोई गलत बात नहीं हो गई। कोई गलत जगह सुख चाहना तो निसंदेह गलत बात है। मिलेगा नहीं, और मिलेगा, तो वैसा ही मिलेगा जैसा इन श्लोकों में वर्णित है। सुख आएगा और उसके पीछे-पीछे बोरी भर के दुःख आ जाएगा।

जो सुख-दुख आएंगे—जैसा कि पिंगला गीता बार-बार समझाती है—वो भाग्य भरोसे आएंगे, और तुम ऐसे ही झूला झूलते रहोगे। भाग्य की लहरों पर तुम्हारी उठा-पटक चलती

रहेगी। कभी सुख मिल गया अनायास और कभी अनायास दु:ख मिल गया। कोई लाभ नहीं न?

सुख और सुख में जब चयन करना हो तो तरीका समझ लीजिए। देख लीजिए कि आपको कहाँ पर सूक्ष्म सुख मिल रहा है, और कहाँ स्थूल सुख। हमारे पास कई बार निर्णय की घड़ियाँ आती हैं न—दोराहे-चौराहे आते हैं—हमें चुनना होता है कि ये सुख लें कि ये सुख लें। दोनों ही दिशाएं बुला रही होती हैं। एक कहती है कि आओ, सुख है यहाँ, दूसरी कहती है कि आओ, सुख यहाँ है। तो वहाँ पर चुनाव करने की ये विधि है कि देख लो कि सूक्ष्म सुख किधर है। जिधर सूक्ष्म सुख है, उधर ही आपका रास्ता है।

निसर्गदत्त महाराज इसको बड़े प्यारे तरीके से कहते थे। वो कहते थे कि एक होता है 'देह' का सुख और एक होता है 'चेतना' का सुख—निर्णय साफ है, कौन-सा चाहिए? आध्यात्मिक आदमी 'सुख' विरोधी नहीं होता, वो 'मूर्खता' विरोधी होता है। वो मूर्खतापूर्ण सुखों का त्याग करता है; वो सूक्ष्म सुखों का पान करता है; उससे ज़्यादा आनन्दित आदमी तो कोई होता ही नहीं। कोई ये न सोच ले कि अध्यात्म में सुख की वर्जना है तो अध्यात्म जैसे दुख-समर्थक हो गया। नहीं-नहीं, अध्यात्म दुखद नहीं होता। अध्यात्म में छोटे सुख की वर्जना है क्योंकि तुम्हारा अधिकार है बड़े सुख पर, तुम्हारी कामना है बड़े सुख की—उससे नीचे हम मानने वाले नहीं है। तो अध्यात्म वही करता है क्योंकि बात बिलकुल सीधी है। जिस चीज़ से नीचे तुम्हें मानना नहीं है, उस चीज़ से नीचे की चीज़ पर निशाना काहे को लगाना? तुम्हें शर्ट आती है ४० की और तुम ऐसी दुकान में घुस जाओ जिसमें कपड़ें मिलते हैं बस बच्चों के। वहाँ बड़ी-से-बड़ी शर्ट का नाप है ३६। ज़िन्दगी भर तुम वहाँ पर खींचा-तानी करते रहो, एक के बाद दूसरी शर्ट आजमाते रहो, दुकानदार से जिरह करते रहो, तो पागल तुम हो कि नहीं हो? और फिर वहाँ से निकलो और सोचो कि दूसरी दुकान आज़माउंगा। जितनी दुकानें हैं सब वो बच्चों के ही बाजार की हैं। उनमें किसी में तुम्हारे नाप की शर्ट मिलनी ही नहीं है। अध्यात्म कहता है कि तुम वहाँ जाओ न जहाँ तुम्हारे नाप की चीज़ मिलेगी। जिससे तुम्हें कुछ तृप्ति भी होगी।

देह को साधन बना कर के जो सुख मिलने हैं, वो सुख बहुत निकृष्ट, निम्न कोटी की गुणवत्ता के होंगे। वो सुख हैं तो सही, पर उनसे पेट नहीं भरेगा, चरमराए से रहोगे सूखे-सूखे से। मैं इनकार नहीं कर रहा हूँ कि देह सुख दे ही नहीं सकती है। देह सुख दे सकती है, पर वो वैसा ही है जैसे चार दिन के भूखे आदमी को प्याज़ रख के दे दो। उसका कितना पेट भरेगा? चार दिन से उसने कुछ खाया नहीं है, और तुमने उसको दे दी डेढ़ रोटी, आधी प्याज़, और चौथाई मिर्च—"खाले!"। वो खा तो लेगा पर छटपटाता ही रहेगा। वैसे ही

हमारा हाल है, अनन्त समय से हम छटपटा रहे हैं और देह का सुख ऐसा ही है—सूखी रोटी और प्याज़ जितना। समझ में आ रही है बात?

इसी 'आशा' को त्यागना है—यही गांठ है। यही वो डोर है जिसने गुब्बारे की उड़ान को रोक रखा है। ये आशा कि यहीं पर काम बन जाएगा, नीचे-नीचे ही काम बन जाएगा। भाई, तुम गैस के गुब्बारे हो। तुम्हारा काम कैसे नीचे बन जाएगा? तुम्हें प्रवास चाहिए, तुम्हें आकाश चाहिए। नीचे चलना ही नहीं है काम। बहुत दिनों तक तुम अपनी गांठ खोलोगे नहीं तो जानते हो न गैस का गुब्बारा बहुत समय तक बंधा रहता है तो क्या होता है? उसे मौत आ जाती है। बंधे-ही-बंधे उसकी उम्र बीत जाती है। सब गैस निकल जाती है। गैस थोड़े ही बंधन मानेगी, वो उड़ गई, वो आसमान में मिल गई। गुब्बारा पिचक के नीचे आ गया। गैस तो नहीं बन्धन मान रही, चली गयी। या तो गुब्बारा अपने स्वभाव को पहचान के खुद भी उड़ जाए, नहीं तो उसके प्राण उड़ जाएंगे।

तुम मूर्खताएं करते रहो, हंसा नहीं मानेगा तुम्हारी मूर्खताएं। वो तुम्हें कुछ निश्चित समय, एक सीमाबद्ध अवधि देता है कि इतने समय में भइया परीक्षा तुमने उत्तीर्ण कर ली तो ठीक है, नहीं तो हम तो उड़ जाएंगे। गुब्बारा लटका रहा, लटका रहा हफ्ते भर। हफ्ते भर बाद देखा तो बिलकुल पिचकी हालत में नज़र आया, वो भी कहाँ? ज़मीन पर। यही अधिकांश लोगों के साथ होता है। बुढ़ापा आ जाता है, मौत आ जाती है, मुक्ति नहीं आती।

चयन तो हम अपनी नज़र में सदा सुख का ही करते हैं। है न? अच्छी बात है यदि आप सुख को लक्ष्य बना रहे हैं। पर सुखों में जो उच्चतम सुख हो, उसको चुनें। देखें कि ऊंची चेतना कौन-से सुख मानती है, और नीची चेतना कौन-से सुख मानती है। नीचे वालों को ज़रा दूर रखें। उदाहरण के लिए, आप जानते ही हो, ज़मीन के कौन-से बाशिंदे होते हैं। जो सदा ज़मीन से बंधा रहे, जो सदा ज़मीन से पासबध्द रहे, उसको पशु कहते हैं। विधि समझिएगा—जब कभी आपके भीतर सुख की चाहत उठ रही हो, अपनेआप से सवाल पूछ लीजिएगा, क्या ऐसा ही सुख पशु भी मांगते हैं? अगर जवाब 'हाँ' में आए, तो बाज़ आइए। आप जिस भी सुख के पीछे भाग रहे हैं, थोड़ा सा ठहरिए, अपनेआप से पूछ लीजिए—"क्या ये सुख पशु भी मांगते हैं या तो सीधे-सीधे, या परोक्ष तरीके से? और अगर वो सुख पशु भी मांगते हैं, तो समझ लीजिए कि वो बिलकुल ज़मीन का सुख है। वो बिलकुल समझ लीजिए कि पाशबद्ध लोगों का, पाशविकता का सुख है। वो आकाश का सुख नहीं है। वो सुख हो सकता है आपको आकर्षित कर रहा हो, काम नहीं आएगा आपके। बात समझ में आ रही है?

"किसी को डरा-धमका करके अपना वर्चस्व स्थापित कर लूँ", इसमें सुख लगता है न? पर ये सुख क्या जानवर भी मनाते हैं या माँगते हैं? बिल्कुल करते हैं। सड़क पर कुत्तों को ही

देख लीजिए, उनमें सदा एक नेता बनकर घूम रहा होता है। आपके कमरे में कीड़े हों, छिपकली हों, उनमें भी जो थोड़ी मोटी छिपकली होगी, वो बाकी सब को रगेड़ रही होती है। भई, छिपकली चलिए दूसरों पर अपनी ‘शारीरिक’ समर्थ से धौंस चलाती है। हो सकता है कि आप दूसरों पर धौंस चला रहे हों अपनी ‘बौद्धिक’ सामर्थ्य से या अपनी ‘आर्थिक’ सामर्थ्य से। तो भी आप काम तो छिपकली और कुत्ते वाला ही कर रहे हैं न? तो इसमें आपको जो सुख मिल रहा है, वो स्थूल सुख है, वो पार्थिव सुख है—ये आपके काम नहीं आएगा। इसी तरीके से अपना घर बना लेना, दीवारें खड़ी कर लेना, और उस घर में दूसरों का प्रवेश वगैरह वर्जित कर लेना—ये काम जानवर भी करते हैं न? और जानवर इसमें बड़ा सुख भी लेते हैं। लेते हैं न?

ये बाहर खरगोशों का घर है। और तीन खरगोश ऊपर भी रहते हैं। उन ऊपर रहने वाले तीन खरगोशों को जब भी यहाँ बाहर वाले खरगोशों के घरों में प्रवेश दिलाओ, तो यहाँ नीचे वाले खरगोश क्या स्वीकार करते हैं? नहीं करते न? बाहर वाले को नहीं आने देंगे, “मेरा घर है, मैंने बनाया”। ये अलग बात है कि तुमने बनाया भी नहीं, वो तो संयोग की बात है कि बन गया। पर ठीक है। यही काम अगर आप कर रहे हैं, और इसमें बड़ा सुख मान रहे हैं, कि, “देखो मेरा घर, मेरा भवन तैयार हो गया। अब मैं इसमें रहता हूँ।” दीवारें रचवा दो, बाहर एक खड़ा कर दो पहरेदार, कोई आने न पाए। “मैं रहूँगा और मेरा इसमें कुटम्ब रहेगा”, तो समझ लो कि जिस चीज़ में तुम सुख पा रहे हो, वही चीज़ है जिसमें एक चूहा भी सुख पाता है, जिसमें एक कुत्ता भी सुख पाता है, जिसमें खरगोश भी सुख पाते हैं। ये सुख तुम्हें मिल तो जाएगा, फिर कह रहा हूँ, काम नहीं आएगा। उस घर के भीतर रहोगे और जलते छटपटाते रहोगे।
अच्छा तरीका है न? बस ये देखना है कि जिन चीजों में मैं सुख खोज रहा हूँ, उन चीज़ों में पशु भी सुख खोजते हैं या नहीं खोजते। इतने भर से ही ८०-९० प्रतिशत सवाल तो अपनेआप हल हो जाएंगे। यही तरीका लगा देना।

कोई व्यक्ति सामने खड़ा है। उससे तुम तीन तरह के सुख ले सकते हो। तीन तलों की हमने बात करी थी न—एक ज़मीन का तल, एक गुब्बारे का तल और एक आकाश का तल। ऐसे ही तुम्हारे ज़िन्दगी में कोई व्यक्ति आता है, उससे तुम तीन तरह के सुख ले सकते हो। ज़मीनी सुख क्या हो गया? बिलकुल पार्थिव, कि तुमने पकड़ लिया उसकी देह को और तुम्हें लगा कि देह से ही तो इसकी सुख मिल जाना है। लगे काम-क्रीड़ा करने, लगे भोग-विलास करने, या तुमने उसकी देह से कुछ और तरीके के सुख चाहे। जैसे की—“चल भई, तू अपनी देह का इस्तेमाल कर और मेरा घर साफ कर दे”। ये भी है वही। शारीरिक सुख ही ले रहे हो न दूसरे से। ये सबसे निम्न कोटि का रिश्ता है दूसरे से। दूसरा तुम्हारे काम नहीं आएगा। इससे ऊपर के तल का रिश्ता क्या हो सकता है दूसरे व्यक्ति से? देह से सूक्ष्म है

विचार, कि तुमने दूसरे से वैचारिक तल पर एक सम्बन्ध बना लिया। कि अब तुम दोनों बैठे हो तो ये नहीं कर रहे हो कि देह-से-देह रगड़ रहे हो, बल्कि बातचीत हो रही है, विचारों का आदान-प्रदान हो रहा है। ये थोड़ा सा ऊंची कोटि का सुख हुआ। एक विद्वतापूर्ण वर्ता होती रहे, वो वार्ताकारों को बड़ा सुख देती है। उनसे पूछना कभी, और वो कहेंगे कि ये जो इसमें सुख है, इस बातचीत में, जो इसमें रस है, वो लपटा-झपटी में थोड़े ही है। और फिर उच्चतम कोटि का सुख हुआ कि तुम उस व्यक्ति के विचारों के पीछे भी जो आत्मा है, जो केन्द्र है, जो मौन है, उस तक पहुँच जाओ। तुम उसकी जड़ तक पहुँच गए; तुम उसके मूल तक पहुँच गए; तुम उसके हृदय तक पहुँच गए। ये उच्चतम रिश्ता हो गया।

सुख पाने के लिए तुम तीनों को साधन बना सकते हो। अब तुम्हें चुनना है कि तुम बनाओगे किसको साधन। तुम चाहो तो दूसरे से सुख पाने के लिए उसकी देह को साधन बना लो—जैसे जानवर करते हैं। तुम चाहो तो दूसरे से सुख पाने के लिए उसकी विचारधारा को, उसकी बातचीत को, उसके व्यवहार को साधन बना लो—जैसा साधारण मनुष्य करते हैं। या तुम चाहो तो दूसरे से सुख पाने के लिए उसके सत को, उसके मौन को, उसकी आत्मा को साधन बना लो। ये तीसरा काम अगर करोगे तो फिर तीसरी कोटि का माने, उच्चतम कोटि का सुख भी पाओगे।

ज़मीन पर रहना है पर आकाश का होकर के। ज़मीन पर रहना है, पर ज़मीन पर घर नहीं बना लेना है। तुम यहाँ एक मिशन पर हो भई, बसने नहीं आए हो। बस तो तुम यहाँ सकते भी नहीं। बसने की कोशिश करोगे तो भी अर्थी तो उठ ही जानी है। बसने यहाँ नहीं आए हो। तुम यहाँ एक काम के लिए आए हो। तुम्हारे पास एक मिशन है, उपक्रम, एक ख़ास प्रयोजन है। वो नहीं भूलना है। रहो यहाँ पर, पर यहाँ के होकर नहीं, अपना वतन याद रखो। क्योंकि वही वतन तुम्हारा है, यहाँ तो चार दिन का ठिकाना है। ऐसे ही बीत जाएंगे।

इसका मतलब ये नहीं है कि यहाँ रहो तो यहाँ रिश्ते नाते नहीं रखने हैं या यहाँ से बेरुखी और बेगानापन रखना है। बात उल्टी है। तुम्हारे पास तो यहाँ एक बहुत बड़ा काम है पूरा करने के लिए, मिशन कहा न हमने। वो कैसे पूरा होगा अगर तुमने ज़मीन के प्रति बेरुखी और बेगानापन रखा? तुम्हें तो पता है कि यहाँ सीमित समय मिला है और उस सीमित समय में ही अपना काम पूरा कर जाना है। तो यहाँ जम कर मेहनत करो—जम कर। तुम यहाँ आराम करने नहीं आए हो, काम करने आए हो। ये है जन्म का मकसद। यहाँ डेरा नहीं डालना है। यहाँ फेरा मार के नहीं बैठ जाना है। यहाँ फटाफट काम निपटाना है। सोना नहीं है। कबीर साहब बोलते हैं, क्या सो रहा है, अभी जल्दी ही वो दिन आने वाला है जब एकदम टाँग लम्बी करके सोएगा—और बहुत लम्बी और बहुत गहरी सोएगा। तो सोने के लिए तो बहुत तुझको अभी समय मिलने वाला है। ये तो जागृति का अवसर है, तू क्यों

सोया पड़ा है? काम कर भाई, काम कर, मिशन! घड़ी टिक-टिक-टिक-टिक। बाद में सो लेना। एक पल ऐसा आने वाला है कि फिर तू कहेगा भी कि तुझे जगना है तो तुझे जगने की अनुमति नहीं मिलेगी, तुझे अनिवार्यतः सुला दिया जाएगा। जब तब सो ही लेना है, तो अभी काम कर ले न!

ये रिश्ता होता है आध्यात्मिक आदमी का इस जगत से—जगत उसकी कर्म-भूमि होती है, विश्रामगृह नहीं, हरम नहीं, निद्रालय नहीं—रणभूमि, संघर्षस्थली। सोएंगे तो हम अपने ही घर जाकर, चैन वहीं मिलेगा। यहाँ तो सो भी लेते हो तो कहाँ चैन मिलता है? मिलता है क्या? है कोई जो इस दुनिया में चैन की नींद सो पाता हो, बोलो? चैन की नींद भी आती है तो बस घण्टे-दो-घण्टे की, जिसको हम कह देते हैं 'सुषुप्ति'। वो भी सबको नहीं नसीब होती, और रोज़ नहीं नसीब होती है। और जिन्हें नसीब होती भी है, वो बस थोड़े ही देर के लिए आती है। नहीं तो सोते समय भी संसार उपद्रव मचाता ही रहता है—कभी ये सपना, कभी वो सपना, कभी ये खलबली, कभी वो खलबली। यहाँ सोने से फायदा क्या जब यहाँ सोते समय भी चैन नहीं मिल रहा। वहाँ सोएंगे न जहाँ पूरा चैन मिलेगा। तो यहाँ कम सोना है। जितनी न्यूनतम आवश्यकता है विश्राम की, बस उतनी पूरी करो यहाँ। यहाँ तो रगड़ दो अपनेआप को। ये देह इसीलिए है, इसको रगड़ दो। बचा के क्या करोगे? जलानी है? बहुत खूब बचा ली, बहुत सारी बचा ली। सुंदर-सुंदर बचा ली, चिकनी-चिकनी बचा ली। जीवन भर उसपर चिकनाई रगड़ते रहे। और बचा कर के फिर क्या किया उसका?—"फूँक दियो जैसे होली रे!" बचा के क्या करोगे? ये तो वैसे भी झड़ ही जाने वाली है। ये स्वंय झड़ जाए, उससे पहले क्यों न हम इसे रगड़ जाएं। आ रही है बात समझ में?

ये है हमारा ज़मीन से सही रिश्ता। बात महीन है, समझिएगा। एक तरफ तो हमें इस ज़मीन से मुक्ति चाहिए, दूसरी तरफ, हमें इसमें ही रम कर के कर्म करना है। ये बात बहुत लोगों को विरोधाभासी लगती है। और आदमी ने इस तरह की बहुत गलतियां करी हैं अतीत में। लोगों ने कहा कि जब इस दुनिया से हमें मुक्ति ही चाहिए तो हम कुछ भी क्यों करें? वो अकर्मण्य हो गए—"दैव-दैव आलसी पुकारा"। वो लगे भगवान की बातें करने, जबकि कुछ नहीं, आलस था उनका बस। तर्क उन्होंने यही दिया कि हम तो जी गुब्बारे हैं, हमारा ठिकाना तो आकाश है, तो हम दुनिया में कुछ करें ही काहे को? पागल, तेरा ठिकाना आकाश होगा, तू आकाश तक पहुँचेगा ही नहीं अगर दुनिया में कुछ नहीं करेगा। गुब्बारा पहुँच जाएगा आकाश तक अगर अपनी डोर नहीं कटेगा? डोर काटना ही पुरूषार्थ है। डोर काटना ही सम्यक कर्म और धर्म है। डोर काटना ही जीवन का प्रयोजन है। और बड़ी मेहनत लगती है। डोर काटना ही साधना है।

ये सब नहीं साधना होती कि बैठ कर के मन्त्र जप रहे हैं और ये सब कर रहे हैं। आजकल साधना के नाम के साथ भी बड़ी बदसलूकी की जा रही है। गुरु लोग आते हैं और कहते हैं कि—"देखो, आज मैं तुम्हें एक साधना दे रहा हूँ। भेंट दे रहा हूँ साधना।" साधना भेंट दी जाने वाली चीज़ है? साधना कमाई जाती है। साधना अपने खून से सींची जाती है। साधना कोई गुलाब का फूल है कि किसी ने भेंट दे दिया तुमको?
ताकि आज़ाद हो सको, इसीलिए खूब काम करना है, जम के काम करना है, जल्दी-जल्दी काम करना है। जो ये नहीं करेंगे, उनको सज़ा ये मिलेगी कि आज़ादी तो नहीं ही मिलेगी, गुब्बारा पिचक और जाएगा। और बड़ा भद्दा लगता है। गुब्बारा जब तक फुलाया नहीं गया हो, तब तक तो फिर भी उसमें एक शोभा होती है, एक संभावना होती है। देखा है? गुब्बारा अभी बस एक सम्भावना भर है, बच्चा भर है, फुलाया ही नहीं गया। तुम उसे हाँथ में लेते हो, कहते हो 'बढ़िया', गुब्बारा रबर है अभी। फिर तुम उसे फुला दो, वो फूल गया। अब फूलने के बाद या तो उसको आकाश मिलेगा या तो दुर्गति मिलेगी। तुम देख लो क्योंकि अब तुम फूले हुए गुब्बारे हो। अब तुमको ये सुविधा नहीं मिलेगी कि तुम्हारी हवा निकाल दी जाए और फिर तुम पुनः अपनी पुरानी और मासूम स्थिति को प्राप्त कर लो, वो नहीं मिलेगा। गुब्बारा अब फुला दिया गया है। फिर उसकी दशा देखी है, हफ्ते-दो हफ्ते-चार हफ्ते बाद कैसी हो जाती है? देखा होगा। कई बार घरों में होता है—जन्मोत्सव वगैरह में गुब्बारा लगा देते हैं। और वो टँगा हुआ है। जानते हो किस काम आता है? अगर किसी को याद हो तो। ऐसे फुले हुए और आधे पिचके हुए गुब्बारों पर मक्खियां बैठती हैं बड़े शौक से। मक्खियां उसपर अड्डा मारती हैं। और वो फिर सूखने लगता है, चुसा हुआ सा प्रतीत होने लगता है। झुर्रियां पड़ती हैं, लटकने लगता है। देखे हैं ऐसे गुब्बारे? ये उसको सज़ा मिल रही है। तूने क्यों भरसक प्रयत्न करके आज़ादी नहीं पाई? तू आकाश में होता अभी। ये जो तू अटका रह गया न, इसीलिए अब अपनी दुर्दशा देख। जब पूरा फूला हुआ था तो बढ़िया था, एकदम लगता था गोल-गोल, तना हुआ। और देखो सात दिन बाद, जो तना हुआ था, वो चुसा हुआ हो गया। अधिकांश मानवता इसी गति को प्राप्त होती है। एक चुसा हुआ जीवन।

ये जो तुमको ताकत दी जाती है जवानी में, ये इसलिए है कि इसका इस्तेमाल कर लो और उड़ जाओ। इस्तेमाल नहीं करोगे तो सज़ा ये मिलेगी कि अस्सी साल जिओगे। भक! अस्सी साल जीने से ज़्यादा भयानक कोई सज़ा हो सकती है? अस्सी चुसे हुए साल। और हर बीतते साल के साथ तुम्हारी शक्ल और चुस्ती जा रही है। संसार तुमको चूस रहा है, तुम रसहीन होते जा रहे हो।

तो याद रखना है—सुख ऊपर है, काम नीचे है। नीचे काम करना है, ऊपर आराम करना है। नीचे का तल्ला काम का, ऊपर का आराम का। नीचे आराम नहीं करने का। नीचे आराम?

नहीं करने का! नीचे सुख? नहीं खोजने का!

हम यहाँ सुख पाने नहीं आए हैं। हम यहाँ काम करने आए हैं। हम यहाँ अपने बंधन काटने आए हैं। हम यहाँ अपना कर्ज़ा उतारने आए हैं। हम यहाँ मौज मारने नहीं आए हैं। हम यहाँ हैप्पी होने नहीं आए हैं। जो लोग यहाँ सुख की और हैप्पीनेस की तलाश कर रहे हैं, उनसे ज़्यादा अभागा कोई नहीं है। वो ये समझ ही नहीं रहे हैं कि यहाँ आने का तुम्हारा प्रयोजन ही नहीं है सुख। तुम गलत चीज़ माँग रहे हो गलत जगह पर। जैसे कि किसी पगले को अस्पताल भेजा गया हो कि जा और अस्पताल में डॉक्टर से मिल के आ। वो तो पगला ठहरा, वो अस्पताल जाता है, वो अस्पताल के कैंटीन में बैठ कर भरपेट खाता है और वापस आ जाता है। वो भूल ही गया है कि वो अस्पताल में खाने नहीं आया था। वैसे ही हम हैं, हम भूल ही जाते हैं कि हम यहाँ किसलिए आए हैं। हम यहाँ पर भोगने नहीं आए हैं। हम यहाँ पर सुख के लिए नहीं आए हैं। हम यहाँ अपनी चिकित्सा के लिए आए हैं। हमें साधना करनी है, काम करना है भई।

बहुत गलत तरीकों से जी रहे हैं हम। बहुत गलत उम्मीदें पाल रखी हैं। कल्पना कर लीजिए उस पागल आदमी की। वो गया है अस्पताल और वहाँ वो क्या कर रहा है? बैठ गया है कैंटीन में और दना-दन दना-दन खाए जाता है—खाता है और सोता है, खाता है और सोता है, खाता है और सोता है। वहीं घर ही बना रहा है कैंटीन में। कह रहा है कि यहीं रहूँगा, बढ़िया है, खाऊंगा-सोऊंगा, खाऊंगा-सोऊंगा। जितना वो खा रहा है, जितना वो खाकर सोता जा रहा है, उतना उसका पागलपन और बढ़ता, भयानक होता जा रहा है। याद रखा करो कि तुम कौन हो। फिर भूलोगे नहीं कि तुम यहाँ क्यों हो। और फिर एक लाभ ये मिलेगा बड़ा कि जीवन से ये शिकायत विदा हो जाएगी कि 'यार मज़ा नहीं आ रहा'।

बहुत लोगों को ये कहते सुना है न, ये शिकायत करते हुए—'यार, मज़ा नहीं आ रहा'। एक चमाट! उनसे पूछो कि तुमसे ये कहा किसने कि ज़िन्दगी मज़े लेने के लिए है? तुमने ये उम्मीद पाल कैसे ली कि मज़ा आना चाहिए? देखिए, सबका यही है कि 'सुख नहीं है, और हैप्पीनेस चाहिए'।

जो आदमी जीवन में सही काम में, सही मिशन में लगा होता है, ये उसको पुरस्कार में मिलता है कि वो मज़े की उम्मीद से आज़ाद हो जाता है। वो फिर ये शिकायत करता हुआ नहीं पाया जाएगा कि 'अरे, मुझे सुख नहीं मिला'। वो कहेगा कि सुख चाहिए किसको था? हम तो काम कर रहे हैं। मज़े थोड़े ही मारने आए हैं, काम करने आए हैं। मज़े चाहिए किसको थे? दूसरी ओर जो काम नहीं कर रहा सही से, उसको तुम पहचान ही लोगे इस बात से कि वो बार-बार शिकायत करता पाया जाएगा—'यार, कुछ मज़ा नहीं आ रहा'। जैसे ही कोई मिले जो कहे बार-बार कि कुछ मज़ा नहीं आ रहा, उसकी गर्दन पकड़ लो—

ये कामचोर आदमी है। ये अधार्मिक आदमी है। ये वो आदमी है जो जीवन गलत तरीके से जी रहा है। ये वो आदमी है जो स्वंय भी विकृत है और दूसरों में भी विकृति का संक्रमण फैला रहा है। ये मज़ेखोर है। 'हराम' शब्द का मतलब समझते हो? वो जिसका भोग निसिद्ध है। वो जो नहीं किया जाना चाहिए। तो मज़ेखोरी ही हरामखोरी है। जो मज़ाखोर है, वो हरामखोर है।
हर आदमी जो सुख की तलाश में घूम रहा है, जो पूछ रहा है कि, "मैं और हैप्पी कैसे हो सकता हूँ?", वही आदमी तो हरामखोर है।

प्रहार मूवी थी। तो उसमें जो नए-नए प्रशिक्षार्थी आते हैं, कैडेट्स, ट्रेनीज़—उसमें नाना पाटेकर का जो पात्र है, वो उनका प्रशिक्षक, ट्रेनर होता है। तो उसका मुझे एक दृश्य याद है। सब-के-सब को सुबह-सुबह बिस्तर से घसीट कर खड़ा कर दिया जाता है। अभी पौ भी नहीं फ़टी होती, अंधेरे में उन सबको खड़ा कर दिया गया है। और वो जो ट्रेनर का चरित्र है, नाना पाटेकर द्वारा अभिनीत, वो कहता है, "जोकर्स, हम यहाँ पिकनिक के लिए नहीं आए हैं"। तो मैं चाहता हूँ कि पूरी दुनिया, कम-से-कम हमारी संस्था के जोकर्स ये बात याद रखें लगातार। क्या? "जोकर्स, हम यहाँ पिकनिक के लिए नहीं आए हैं"। काम करना है भई।

१६. बाहरी घटनाएँ अन्दर तक हिला जाती हैं?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, समय बदल रहा है और जिस क्षेत्र में मैं कार्यरत हूँ उस क्षेत्र में धीरे-धीरे मंदी आ रही है। मैं इस मंदी से आंतरिक रूप से बहुत ज़्यादा प्रभावित हुआ हूँ। कारणवश अब आर्थिक रूप से भी मैं बिलकुल खाली हो गया हूँ और इस प्रक्रिया में मैंने ख़ुद पर बहुत कर्ज़ा भी उठा लिया है।

आपसे यह समझना चाहता हूँ कि जब बाहरी सारी परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों तब भी मैं कैसे साहस रखूँ? उमंगित रहूँ और अपने कर्मों को बिना द्वंद के प्रतिदिन कैसे करता चलूँ?

आचार्य प्रशांत: बाहर मंदी आ रही है, कर्ज़ा ले लिया है, उसकी वजह से तनाव होता है। इन बाहरी परिस्थितियों में भी उल्लास कैसे बचा रहे? आनंदित कैसे रहें?

बाहर जो कुछ भी हो रहा है, इतना बड़ा कैसे हो गया? एक मूल बात, सिद्धान्त, समझिएगा मेरे साथ-साथ। बाहर जो कुछ भी है वो किसी बाहरी चीज़ पर ही प्रभाव डाल सकता है न? दूसरे शब्दों में हर चीज़ अपने ही तल की किसी चीज़ से प्रतिक्रिया कर सकती है न? जो जहाँ का है वो वहीं के अन्य पदार्थों, अन्य इकाइयों पर अपना प्रभाव छोड़ सकता है न? बोलो? है न? पत्थर उछलेगा तो पेड़ पर लगेगा क्योंकि पत्थर और पेड़ दोनों ही ज़मीन के हैं। तो वो एक दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते हैं, एक दूसरे से सम्बंध रख सकते हैं। है न?

अब बाहरी और आंतरिक में अंतर समझिएगा। आप जिसको आंतरिक बोलते हैं अगर वो बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित हो जाता है तो या तो आंतरिक बाहरी है या बाहरी आन्तरिक है, पर एक बात पक्की है कि दोनों एक हैं। क्योंकि बाहर की चीज़ बाहर की ही चीज़ पर प्रभाव डाल सकती है। और अंदर की चीज़ का सम्बंध अंदरूनी चीज़ों से ही हो सकता है। आप कहें, "घटना बाहर घटी है, हिल गया कुछ भीतर-भीतर", तो इसका मतलब है जो भीतर-भीतर लग रहा है, वो भी है 'बाहर'।

अब आप कह रहे हैं कि बाहर घटना घट रही है, मंदी छा रही है, कर्ज़ा इत्यादि है और वो आपके आनंद को हिलाए-डुलाए दे रहा है। तो फिर ये आनंद भी कैसा है? ये तो बाहरी हो गया न? आनंद तो आत्मा है। कैसे जीएँगे आप आत्मा को बाहरी बनाकर? जैसे कोई आदमी अपना दिल अपने हाथ में लेकर चलता हो बाहर-बाहर। हो सकता है वो तो फिर भी जी जाए कुछ दिन, कुछ हफ़्ते, कुछ महीने, पर किसी की आत्मा ही अगर बाहरी हो गई तो वो जिएगा कैसे? फिर तो वही है—"जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्राण"। साँस चलेगी किन्तु प्राण नहीं होंगे। देखने में लगेगा कि ज़िंदा हैं पर ज़िंदा होंगे नहीं। आत्मा ही बाहरी कर दी, अब जीवन कैसा? खेद की बात ये है कि हम में से ज़्यादातर की आत्मा बाहरी ही होती है। या तो कह दो कि आत्मा बाहरी होती है या ये कह दो कि आत्मा होती ही नहीं, हम आत्मा से बहुत दूर निकल आए हैं।

आत्मा माने वो जो सर्वथा निजी है, आत्मिक, अपनी। और अगर अपनी है तो उसपर बाहरी मंदी का असर कैसे पड़ गया भाई? बाहर मंदी हुई, आत्मा भी मन्द हो गयी, और बाहर भाव चढ़ेंगे, तो आत्मा भी चढ़ जाएगी?

गलती सारी यहाँ हो रही है। बात बाज़ार की नहीं है, बात अर्थव्यवस्था की तात्कालिक मंदी की नहीं है। अर्थव्यवस्था तो हो सकता है साल भर बाद फ़िर चढ़ने लग जाए। लेकिन अर्थव्यवस्था जब चढ़ेगी तो उसके साथ-साथ अगर आप भी चढ़ गए तो ये उतनी ही बुरी बात होगी जितना कि गिरती अर्थव्यवस्था के साथ गिर जाना। लेकिन तब मेरे पास कोई शिकायत करने नहीं आएगा। शेयर मार्केट भाग रही है, जी.डी.पी. की विकास दर भाग रही है और भीतर-भीतर हमारी आत्मा भी फूली जा रही है। तब कोई शिकायत करने नहीं आएगा कि, "आचार्य जी, क्या करें?" तब लगेगा सब ठीक है। नहीं, तब भी उतनी ही बड़ी दुर्घटना घट रही होगी, जितनी अब घट रही है। दुर्घटना यह है कि हमने कुछ भी 'अपना' छोड़ा नहीं है। कुछ भी ऐसा नहीं छोड़ा कि बाहर कुछ भी होता रहे, उसपर फ़र्क नहीं पड़ता। कुछ भी अपना नहीं छोड़ा। क्या है नतीजा? नतीजा इतना ही नहीं है कि जब अर्थव्यवस्था में मंदी छाती है तो हम गिर जाते हैं। नतीजा यह है कि चौबीस घंटे हमारे जीवन में जो कुछ भी बाहर हो रहा होता है उसको हम आंतरिक बना लेते हैं। उसका आप कोई उल्लेख नहीं कर रहे हैं। लेकिन जिस मन पर अर्थव्यवस्था की मंदी की मार पड़ रही होगी, उस मन पर घरेलू चीजों की भी मार पड़ती है। उस मन पर बाजार में किसी ने फ़ब्ती कस दी, उसकी भी मार पड़ती है। उस मन पर किसी के द्वारा मिल रही प्रशंसा की भी चोट पड़ती है। वो मन पूरी तरह बाहरी है न? तभी तो उसे आत्मा नहीं कह सकते।

आप उन चीजों की बात नहीं कर रहे हैं क्योंकि वो चीजें आपको लगता है कि स्वीकार्य हैं। उन चीज़ों से हम समझौता कर लेते हैं। बाहर मौसम बढ़िया खिला, हम भी खिल गए। शाम को रिमझिम बारिश होने लगी, भीतर भी कुछ गीला-गीला हो गया। हमें बुरा ही नहीं लगता।

हम तब नहीं जाते कि, "आचार्य जी, गड़बड़ हुई है"। बारिश बाहर हो रही थी, गीले हम कमरे के अंदर हो गए। तब हम पूछने ही नहीं जाते कि कुछ गड़बड़ हुई है। बहुत गड़बड़ हुई है! यह बारिश ने जो कर डाला, वही काम अब अर्थव्यवस्था करेगी आपके साथ। ऊपर से बारिश गिरी, आप भीतर से गीले हो गए न? वैसे ही ऊपर से अर्थव्यवस्था नीचे को गिरी, ग्राफ़ ऐसे नीचे आया, और जैसे-जैसे ग्राफ़ नीचे आ रहा है वैसे-वैसे आपका दिल भी डूब रहा है।

जो ही व्यक्ति लगातार दुनिया के ही भरोसे रहेगा, दुनिया से ही संबंधित रहेगा, उसको यही सज़ा मिलेगी और यही सुख मिलेगा। सुख भी मिलेगा, बराबर का मिलेगा। क्योंकि दुनिया में सज़ा-ही-सज़ा नहीं है। सिर्फ़ सज़ा-ही-सज़ा होती तो सब मुक्त हो गए होते। सज़ा कौन झेलना चाहता है? माया इतनी बेवकूफ़ नहीं है कि लगातार आपको सज़ा ही देती रहे। फ़िर आप फँसेंगे ही नहीं। वो बीच-बीच में चटखारे देती है, सुख देती है। और एक बार सुख मिल गया तो अगले तीन साल के लिए उम्मीद बंध जाती है। अब वो तीन साल तक आपको सज़ा भी देती रहेगी और आप झेल जाओगे। आप कहोगे वो सितम्बर, दो-हज़ार सोलह में सुख मिला था। आएगा, फिर आएगा! "नर हो न निराश करो मन को", "बेटा तुम डटे रहो और जब डूबने लगो तो दो-चार मोटिवेशनल वीडियो देख लो"। तो मैं कैसे बताऊँ कि अर्थव्यवस्था की मंदी भर से आप कैसे बचे रह जाएँ? या तो आप पूरी माँग करें। पूरी माँग ये है कि बाहर कुछ भी घट रहा हो चाहे अर्थव्यवस्था में, चाहे गृह व्यवस्था में, चाहे राजनीति में, चाहे खेलों में, चाहे सिनेमा के पर्दे पर, कहीं कुछ भी हो रहा हो, हमारे भीतर कोई प्रभाव पड़े नहीं। अगर आप ये माँग करें तो मैं कुछ सुझाव दे सकता हूँ। पर अगर आप कहें कि नहीं बाकी सब चीज़ों में जैसा चल रहा है वैसा ही चलता रहे। सिनेमा देखने जाएँ और पर्दे को देखकर रोना शुरू कर दें या पर्दे पर कुछ गरमा गरम हो रहा हो तो उत्तेजित हो जाएँ। क्रिकेट देखें और कोई छक्का मारे तो हम भी सोफ़े पर उछल जाएँ, सुख लें। ये सब चलता रहे बस अर्थव्यवस्था में जब मंदी आए तो उसका हमपर असर न पड़े। तो आप असंभव माँग कर रहे हैं। अगर टीवी स्क्रीन पर कोई छक्का मारता है और गेंद के साथ-साथ आप भी उछल जाते हैं तो अर्थव्यवस्था भी जब गिरेगी तो आप भी गिर जाएँगे।

लेकिन जब टीवी स्क्रीन को देख-देख कर चिल्ला रहे होते हैं, कभी निराश हो रहे होते हैं, कभी नारे लगा रहे होते हैं, तब ये ख़याल भी नहीं आता न कि अपने साथ बड़ा अन्याय कर रहा हूँ, अपनेआप को बहुत गलत शिक्षा, बहुत गलत प्रशिक्षण दे रहा हूँ?

अगर टीवी के पर्दे पर जो चल रहा है उसको मैंने इतनी हैसियत दे दी कि वो मुझे अंदर तक छू जाए, झकझोर दे, उत्तेजित या निराश कर दे, तो फिर संसार के पर्दे पर जो चलेगा उससे कैसे बच जाऊँगा? जब सिनेमा के पर्दे से अछूते नहीं रह सकते तो संसार के पर्दे से अछूते कैसे रह जाओगे भाई? पर हमें तो सिनेमाबाज़ लोग ही हिला जाते हैं।

हॉस्टल में था, टाइटैनिक रिलीज़ हुई थी। लड़के सब गए देखने। तब इंटरनेट का इतना नहीं था। कुछ तो था कि टाइटैनिक बहुत अच्छी पिक्चर है। कुछ उसकी हिरोइन के बारे में काफ़ी सुना था। हॉस्टल की बात है, बताया गया था एक-दो मसालेदार सीन भी हैं—कहे, चलो-चलो चलते हैं। अब टाइटैनिक डूब रहा है, बुरा तो हम लोगों को भी लग रहा है। लेकिन इधर कुछ बैठी हुई हैं लड़कियाँ और कुछ इधर बैठी हुई हैं। अब ये मत कह दीजिएगा फिर मिसोजिनि शुरू कर दी। अब ऐसा था तो बता रहा हूँ। वो लगीं रोने। पहले थोड़ा रोईं, फिर ज़ोर से रोईं। ये जो बैठे हुए हैं पाँच-छह हम लोग, ये बिलकुल मुस्टंडे, जैसे कॉलेजी लड़के होते हैं। लेकिन वो इतनी ज़ोर से रोएँ इधर वाली और उधर वाली लड़कियाँ कि बीच वाले सब भी गीले हो गए। आँसू आ गए बिलकुल आँख में। एक वहाँ समुंदर जिसके अंदर लियोनार्डो और ऊपर कैट विंसलेट *(टाइटैनिक पिक्चर में इन दोनों ने मुख्य किरदार निभाया था)* और एक यहाँ समुंदर पैदा हो रहा था। और इस बात में हमें कोई ऐब ही नहीं दिखाई दिया, कोई ऐतराज़ ही नहीं हुआ। बल्कि अच्छा-सा लग रहा था, मीठा-मीठा सा लग रहा था। सामूहिक रुदन चल रहा है न! ऐसा लग रहा था हम एक हो गए, एक होने का तब और कोई तरीका तो मिलता नहीं था। आई.आई.टी. का हॉस्टल, तो यही तरीका था एक होने का, इधर ये रो रही हैं, इधर हम रो रहे हैं, उधर वाली भी रो रही हैं, सब एक हो गए।

आज तक कभी किसी को इस बात में छिपा हुआ ज़हर दिखाई दिया है कि पर्दे पर जो होता है वो आपको रुला जाता है? बिलकुल बुरा नहीं लगा है न? टाइटैनिक आज भी दिखा दी जाए तो रो पड़ेंगे न? और वहाँ पता है कि सिर्फ़ पर्दा है, पता है न?

संसार का तो हमें पता भी नहीं कि सिर्फ़ ये पर्दा है। तो संसार में जो कुछ हो रहा है वो आपको क्यों न रुला जाए? क्यों न रुला जाए, बताइए?

इकोनॉमिक साइकल्स होते हैं, बहुत आधारभूत बात है। फ्री मार्केट इकॉनमी बिना साइकल्स के चल नहीं सकती। थोड़ा-सा अगर आप अर्थ व्यवस्था का अध्ययन करेंगे तो तुरंत ये बात सामने आ जाएगी। चक्रीय होती है, साइक्लिक। अब उसमें क्या परेशान होना कि पाँच साल तक, सात साल तक मामला ऊपर को जा रहा था, अब अगले चार साल नीचे को जाएगा। ये तो होना ही होना है। फ्री मार्केट इकोनॉमी का ये स्ट्रक्चरल फ़ीचर कहलाता है—इट इज़ साइक्लिकल। पता है कि ऐसा होगा और ये भी पता है कि लगातार नीचे नहीं जा सकती, नीचे जाते-जाते फ़िर ऊपर को उठ जाती है। लेकिन फिर भी उसको लेकर परेशानी। क्या परेशानी है भाई?

बात बस इतनी-सी है, हमने अभ्यास बहुत गलत कर लिया है। हर छोटी-छोटी बात को अपने सर पर चढ़ा लेने का हमने अभ्यास कर लिया है। बाहर कोई भी घटना घट रही हो, उसको बहुत तवज़्ज़ो, उसे बहुत महत्व देने का अभ्यास कर लिया है हमने। और उससे लाभ

क्या होता है? कई लाभ हैं जिसमें प्रमुख लाभ ये होता है कि आपको ये लगता है कि आप भी समूह के हिस्से हैं। सब रो रहे हों टाइटैनिक देखकर और आप न रोएँ तो ऐसा लगेगा जैसे निष्कासित हो गए समाज से। उस समाज में घुसने की अनुमति सिर्फ़ उसको है जो रोए, वही पासवर्ड है। मैच चल रहा है और सब उछल रहे हैं ज़ोर-ज़ोर से, आप शांत बैठे हैं, आपको कमरे से निकाल दिया जाएगा और अगर वर्ल्डकप का मैच है तो मार भी देगा कोई, कहेगा देश-द्रोही है। पाकिस्तान के खिलाफ़ हो तो फिर तो पूछो ही मत। ये ज़ुर्रत भी मत कर लेना कि छक्का पड़ा और तुमने नारे नहीं लगाए। अनिवार्य है! हमने अभ्यास ख़ूब कर लिया है, जो कुछ भी कहीं चल रहा हो, उसको अपनी अंतर्दशा बना लें।

आत्मा को तो हमने कुचल ही डाला। कुचला उसे जा नहीं सकता, पर अपनी ओर से तो हमने उसे नष्ट ही कर दिया। कुछ भी आत्मिक रहने नहीं दिया।

आत्मिक माने समझ रहे हो न? वो जिसे छुआ नहीं जा सकता। वो जिसपर किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वैसा हमने अपनी ज़िंदगी में कुछ छोड़ा है? बताइए? बहिर्दशा अंतर्दशा कब बन जाती है हमें पता हीं नहीं चलता, और हम इस प्रक्रिया को रोकना भी नहीं चाहते। ये बात कितनी विवशता और बेचारगी और गुलामी की है न? घटनाएँ हमें बदल डालती हैं। बिलकुल झंझोड़ देती हैं और हमें ऐसा कहते हुए, ऐसा होने देते हुए लज्जा भी नहीं आती। बल्कि यदि हमारी हालत ख़राब हो तो हम इस बात को अपनी रक्षा में, अपनी दलील की तरह प्रस्तुत करते हैं कि मैं क्या करूँ घटनाएँ ही कुछ ऐसी घटीं।

कोई पूछे, "आपने गलत किया, आपको इतना गुस्सा नहीं करना चाहिए था" तो तुरंत हमारी दलील क्या होती है? "मैं क्या करूँ? उसने बात ही कुछ ऐसी कही थी!" हम समझ भी नहीं रहे हैं कि हमने कितनी ख़तरनाक दलील दे दी। हम कह रहे हैं हमारा कोई नियंत्रण नहीं है अपने ऊपर। हमारी कोई मालकियत नहीं है अपने ऊपर। "उसने बात ही कुछ ऐसी कर दी कि मुझे गुस्सा करना पड़ा"। ये आपकी शान की बात है या ये आपकी मजबूरी की बात है? सोच कर बताइए? आप कहें कि, "उसने बात ही कुछ ऐसी कर दी कि मुझे गुस्सा करना ही पड़ा", इस बात में बहुत शान है या बड़ी विवशता?

प्रश्नकर्ता: विवशता।

आचार्य प्रशांत: पर हम इसमें अपनी विवशता मानते ही नहीं हैं। हम इसमें अपनी शान मानते हैं। "लालच था ही इतना बड़ा कि मैं फ़िसल गया!", "वो थी ही इतनी सुंदर कि मैं बहक गया!"—ये सब कहते हुए हमको ज़रा भी लाज नहीं आती। ये हमें लगता है हम अपने पक्ष में तर्क दे रहे हैं। ये पक्ष में तर्क दिया जा रहा है?

बात अभ्यास की है। तो मत पूछिए कि अर्थव्यवस्था प्रभावित करे तो क्या करें।

दिन-रात सही अभ्यास करिए! दिन-रात सही अभ्यास करेंगे अप्रभावित रहने का, तो जब अर्थव्यवस्था गिरेगी तब भी अप्रभावित रहेंगे और जब उठेगी तब भी। लेकिन अगर अर्थव्यवस्था उठी और आप अप्रभावित रह गए, तो उठने के मज़ें से चूकेंगे। उस मज़ें का हमें बहुत मोह है। नहीं है?

प्रश्नकर्ता: नहीं है।

आचार्य प्रशांत: फिर ठीक है।

प्रश्नकर्ता: दो साल से आपके संपर्क में हूँ, और छह-सात महीने से ऐसे ही चल रहा है। लेकिन आपका आशीर्वाद है कि शांत है मन, और चल रहा है।

आचार्य प्रशांत: बस फिर ठीक है। जो सुख के रस की उपेक्षा करना सीख ले, उसे दुःख और तनाव से आसानी से मुक्ति मिलेगी और जो ये माँग करे कि सुख का रस तो मिलता रहे बस दुःख न मिले तो वो कुछ ऐसा माँग रहा है जो मिलने वाला नहीं।

जीवन की निर्मित्ति, संरचना, कुछ ऐसी है कि इसमें सुख भी है और दुःख भी है, लेकिन दुःख, सुख से पाँच गुना, दस गुना ज़्यादा है। सुख बस इतना ही है कि तुम दुःख झेल जाओ।

(एक प्रसिद्ध गीत के बोल दोहराते हुए)

‘‘हमने जग की अजीब तस्वीर देखी, एक हँसता है, दस रोते हैं’’
"हमने गिन-गिन हर तकदीर देखी, एक हँसता है, दस रोते हैं’’

यही अनुपात है—एक और दस का। एक बार हँसोगे तो दस बार रोओगे। लेकिन अगर दस बार रो लिए तो एक बार हँसने को मिलेगा। एक बार हँसने के लालच में हम दस बार रोना बर्दाश्त कर जाते हैं। ये घाटे का सौदा है कि नहीं है? अगर एक और एक का भी अनुपात होता तो मैं कहता चलो कोई बात नहीं। थोड़ा रोए, थोड़ा हँसे, थोड़ा पाया, थोड़ा खोया। यहाँ एक और एक का अनुपात नहीं है, यहाँ एक और दस का अनुपात है।

माया किसी कॉर्पोरेट कंपनी की मालिक की तरह है। अगर आपको एक लाख तनख्वाह दे रही है तो समझ लीजिए कि बीस लाख का काम करा रही है। एक और बीस का अनुपात होगा। मिलेगा आपको एक और खटेंगे आप बीस बराबर। ये सौदा जिनको मंज़ूर हो, वो गुलामी करते रहें।

१७. योजना, अकेलापन और बुद्धत्व

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, जब अचानक मन के सामने कुछ आता है तो वह प्रतिक्रिया व्यक्त करता है—जो अच्छी भी हो सकती है व बुरी भी हो सकती है। किसी चीज़ की पुनरावृत्ति होने पर मन योजना बनाने लगता है कि “कैसे होगा?”।

आचार्य प्रशांत: मन का तो उल्लू कटेगा न क्योंकि किसी चीज़ की कभी पुनरावृत्ति होती नहीं। आप ही वह नहीं हो जो पिछली घटना के समय थे। आप वह क्यों नहीं हो? क्योंकि पिछली घटना वाले को उससे पिछली घटना का अनुभव नहीं था। इस घटना वाले को इससे पिछली वाली घटना का अनुभव नहीं है। आप ही वह नहीं हो तो दोहराव का क्या सवाल है? पर मन अपनेआप को यह दिलासा देना चाहता है कि—“भाई, अब जो होने जा रहा है न, मुझे उसका पूर्वानुभव है। नई चीज़ नहीं है, पुरानी है; डर मत। अज्ञात में प्रवेश नहीं हो रहा है, ज्ञात है, ज्ञात है।” तो फिर कहता है दोहराव ही है, भाई। यह वही है क्या? कैसा पता वही है? न ये वही है, न आप वही हो, न माहौल वही है, पल में ब्रह्मांड बदल गया—आप कह रहे हो ‘दोहराव’ है।

प्रश्नकर्ता: इसमें मन को डर भी लगता है कि लक्ष्य *(प्रश्नकर्ता एक खिलाडी हैं)* हासिल हो भी पाएगा या नहीं।

आचार्य प्रशांत: तो सीधे रहो न। डरे हुए हो, उसके कारण सारे खेल चल रहे हैं। पहला राउंड तो वह वैसे ही जीत गया। सुन ज़ू की किताब है—“आर्ट ऑफ वार”। उसमें वह जो लड़ने के तरीके बताता है, उसमें से यह एक है कि सबसे बढ़िया जीत वह है जो बिना लड़े हासिल हो जाए। प्रतिपक्षी को ऐसा आक्रांत कर दो, उसके ज़हन पर ऐसे छा जाओ कि वह मैदान में आने से पहले ही ख़त्म हो जाए, दस्त लग जाएँ उसको। मैदान पर तो बाद में उतरा, हार वह पहले ही गया। पढ़िएगा, अच्छी है। पर उसका भी बड़ा दुरुपयोग हुआ है। ये

जितने महत्वाकांक्षी लोग हैं, सब उसको इस्तेमाल करते हैं दुनिया में फ़तह हासिल करने के लिए। आज से करीब बारह साल पहले मैं अपने छात्रों को वह किताब पढ़ाता भी था, फिर छोड़ दिया। किताब अच्छी है। जब लाओ त्सू आ जाते हैं, तब सुन ज़ू छूट जाता है।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अकेलापन महसूस होता है। ऐसा क्यों लगता है कि उसकी कमी कोई आकर के पूरी कर देगा? मन ऐसा क्यों कहता है कि किसी से बात कर लो तो अकेलापन मिट जाएगा?

आचार्य प्रशांत: यह दोनों एक ही बात हैं; कोई किसी का कारण नहीं है। तुम्हें बहुत सारे लोग दिखाई देते हैं ,इसलिए तुम में उम्मीद जगती है कि कोई आकर पूरा कर देगा। तुम्हें विकल्प, संभावनाएं दिखाई देती हैं कि कोई आएगा और कमी पूरी कर सकता है—इसीलिए अकेलापन लगता है। और यह कहना भी ठीक है कि अकेलापन लगता है, इसीलिए तो दूसरे की याद आती है। दोनों एक बात हैं; इनमें से कोई किसी का कारण नहीं है। यह पूछो कि ये दोनों ही बातें क्यों हैं; यह मत पूछो कि इनमें से एक बात है तो दूसरी बात क्यों है, वह व्यर्थ का सवाल है। पूछो कि यह दोनों ही बातें क्यों हैं।

प्रश्नकर्ता: अकेलापन क्यों है?

आचार्य प्रशांत: हाँ, अकेलापन क्यों है? दूसरे की तलाश ही क्यों है?—यह क्यों? यह पूछो। वह ज़रूरी है।

पैदा हुए हो इसलिए। बच्चे की हालत समझते हो जब वह पैदा होता है? नन्हा-सा है और चारों तरफ क्या है उसके? अति विशाल संसार—वस्तुओं से, व्यक्तियों से, आवाजों से, प्रकाश से, दृश्यों से भरा हुआ। तो यह तो जन्म लेते ही सज़ा मिलनी है। क्या? अकेलापन, अधूरापन।

प्रश्नकर्ता: लेकिन वह समझ तो पाता नहीं है।

आचार्य प्रशांत: नहीं, बेकार ही रोता है! बिना समझे ही रोता है? खुश होगा तो रोएगा? यह *(एक व्यक्ति की तरफ इशारा करते हुए)* खुश होता था जब तो रोना शुरू कर देता था? कुछ तो उसे दु:ख लगता है तभी तो वह रोता है। कितना भी बड़ा बच्चा हो—एक घंटे का, एक महीने का, एक साल का—यदि रो रहा है तो क्या पक्की बात है? दु:ख है। दु:ख है तभी तो रोता है। पैदा होते ही रोता है। जब वह शांत होता है तो वह उसके चेहरे पर दिख जाता है न। माँ कहती है—वह शांत पड़ा हुआ है। जब वह खुश होता है तब भी दिख जाता है न, दांत अभी नहीं है लेकिन मुस्कुरा देता है। बहुत छोटा बच्चा होता है वह भी मुस्कुराना जानता है। अगर शांत है तो आप मानने को तैयार हो जाएंगे कि अभी यह सुखी है। तो जब

रो रहा है तो मानने को क्यों नहीं तैयार हो कि अभी दुःखी है? रो रहा है तो कुछ दुःख होगा तभी रोया है न। पैदा होते ही चिंघाड़ मारता है, यह क्या हो गया?

आप उसकी वेदना समझिए। अचानक क्या-क्या उसके ऊपर बरस पड़ा—आवाज़ें, प्रकाश *(गर्भ में अंधेरा था)* , लोग। यह क्या हो गया? आप अपनी ओर से लाड़ करते हैं, उसके लिए वह दहाड़ होता है। उसका कलेजा दहल जाता है कि यह हो क्या रहा है मेरे साथ। ऐसे ही जैसे एकदम मौन हो, और अचानक से कर्कश आवाज आने लगे। और उसे अभी कोई पूर्व अनुभव भी नहीं है शोर का, उसके लिए तो एक झटका है, बहुत बड़ा झटका। आदमी उस झटके से जीवन भर नहीं उबर पाता। जीवन भर हम पैदा होने की यंत्रणा से ही उबर नहीं पाते। हो क्या गया? पैदा कैसे हो गए? कहाँ आ गए और क्यों आ गए?

कोई है जिसको संसार जरा भी अजनबी न लगता हो? कल वहाँ छुपे हुए थे, नदी के पास, ज़रा दो-चार भूत की आवाज़ें निकाल दी, यह पच्चीस-तीस वर्ष का नवयुवक पलट कर भागा। जबकि इसको पता है कि इसी के ही आसपास अपने ही पंद्रह लोग मौजूद हैं। कोई है जिसे संसार अजनबी न लगता हो? क्या उसको वहाँ पर ज्ञात का खौफ था? किस का खौफ था? अ-ज्ञात का—वही बच्चे वाली हालत। मैं आ कहाँ गया? यहाँ बहुत कुछ है जो निपट अनजाना है। वही डर अभी तक नहीं गया, किसी से नहीं गया।

आप दुनिया को कितना भी जान लो, यह संभावना हमेशा है कि दुनिया में से ऐसा कुछ उछलकर सामने आ जाएगा जिसके लिए आप तैयार बिलकुल नहीं थे। यही तो है जन्म लेने का दुःख। आप पूरी तरह कभी जान नहीं सकते और मन ऐसा है जिसको जब तक परिपूर्ण बोध न हो जाए, उसे चैन नहीं आने का। वह परिपूर्ण बोध हासिल कैसे करना चाहता है? इंद्रियों से। ऐसा हो नहीं पाता क्योंकि तुम बहुत छोटे हो और ब्रह्मांड बहुत बड़ा। तुम्हें अनंत जन्म मिल जाएँ तो भी तुम चप्पे-चप्पे को, कोने-कोने को जान नहीं पाओगे। नहीं जान पाओगे तो क्या बना रहेगा? डर बना रहेगा। अरे, पता नहीं क्या सामने आ जाए। अब मैं सियार की आवाज़ निकाल रहा हूँ—वह भी बड़ी घटिया आवाज़ निकाल रहा हूँ, उस सियार की कोई मुर्दा सियार भी वैसी आवाज़ न निकाले—और यह उस आवाज़ से दहल गया, भाग लिया पीछे को। मज़ेदार बात बताऊँ, उसकी जगह मैं होता तो शायद मैं भी लड़खड़ाता क्योंकि जीव तो सब हैं, देह तो सबके साथ है। कोई नहीं होगा जिसके लिए कोई ऐसी स्थिति न हो जिसमें उसका दिल धड़क न जाए। यह पैदा होने का दण्ड है।

प्रश्नकर्ता: बुद्ध जब अंगुलिमाल के पास चले जाते हैं बिना डर के और बिना मृत्यु के भय के, तो वह क्या था?

आचार्य प्रशांत: सिद्धार्थ तब भी डरा था, बुद्ध नहीं डरे थे। बुद्ध की ख़ासियत ही यही है कि सिद्धार्थ उनके सामने अब अदब से पेश आता है, तमीज़ से पेश आता है। सिद्धार्थ अब उनका अनुगामी हुआ, चेला हुआ। पीछे खड़ा है और पीछे अपना डरता रहे। क्या करना है, पीछे वाले को पूछता कौन है? पीछे वाली की हैसियत क्या है? पीछे वाला है ही नहीं। और डर भी, जो पीछे खड़ा है, उसका ज़रा कम हो जाता है क्योंकि आगे जो खड़ा है वह तो डर ही नहीं रहा है—वह तो बुद्ध है। यह बहुत गूढ़ प्रश्न है कि अंगुलिमाल के सामने बुद्ध का दिल धड़का था कि नहीं धड़का था। यह बिलकुल वैसा ही प्रश्न है जब पूछते हो कि कुत्ते में बुद्ध स्वभाव होता है कि नहीं। होता है और नहीं भी होता—मूक। वैसे ही पूछोगे कि अंगुलिमाल के सामने बुद्ध डरे थे कि नहीं डरे थे तो बड़ा मुश्किल है जवाब देना—मूक। वह निर्भर इसपर करता है कि तुम बुद्ध को क्या समझ रहे हो। वह निर्भर इसपर करता है कि प्रश्न पूछने वाला कौन है।

कृष्ण रत होते थे गोपियों के साथ। क्या कृष्ण रत हो जाते थे? आत्मा तो अरत रहती है। या कृष्ण रत होते ही नहीं थे? बड़ा गूढ़ प्रश्न है। न हाँ कह सकते हैं, न ना कह सकते हैं। हाँ-ना के आयाम से ऊपर का उत्तर है इसका। प्रश्न तुमने इस आयाम का पूछा है, उत्तर उस आयाम में है। कृष्ण आलिंगनबद्ध हैं किसी गोपी के साथ, यह दैहिक मिलन है कि नहीं है? बड़ा मुश्किल है कह पाना क्योंकि देह-से-देह तो मिल रही है और देह का जो पूरा रसायन-शास्त्र है, वह भी अपनी गति कर रहा है। पर फिर भी क्या कृष्ण मिल गए किसी से? आत्मा तो असंग होती है। वह तो किसी से मिल ही नहीं सकती। क्या कृष्ण मिले किसी से? बड़ा मुश्किल है कहना। मिले भी और नहीं भी!

१८. जिन्हें अकेलापन जकड़ता हो

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, पिछले एक साल से आपको सुन रहा हूँ। आपने बताया था कि कोई भी चीज़ के लिए पूछो कि यह ज़रूरी है कि नहीं, अगर ज़रूरी नहीं है तो उसे हटा दो। मैंने यह करना शुरू किया, सब कुछ हटाने लगा जैसे पहले यूट्यूब पर घंटों कॉमेडी वीडियो देखता था, वह अब खत्म हो चुका है। यूट्यूब पर गाने कुछ भी नहीं सुनता हूँ क्योंकि उसकी ज़रूरत नहीं है। फेसबुक वगैरह उतना आवश्यक नहीं है।

अब जब सब हटा दिया तो दो-तीन महीने से काफ़ी ज़्यादा अकेलापन महसूस हो रहा है।

आचार्य प्रशांत: जो हटाया है, उसके पास दोबारा चले जाओ।

प्रश्नकर्ता: लेकिन उससे कुछ फायदा नहीं होता।

आचार्य प्रशांत: फिर से और पास जाओ। 'लोनलीनेस' अपनेआप को बहुत होशियार समझती है। यह जो अकेलापन है, जो आंतरिक निर्जनता, तन्हाई है, यह सिर्फ यही नहीं कहती कि "मैं परेशान हूँ"—ये यह भी कहती है कि "मैं परेशानी का समाधान जानती हूँ"। बहुत होशियार समझती है अपनेआप को। यह कहती है अकेलापन दूर करने के लिए यहाँ जाओ, वहाँ जाओ। जब बहुत शोर ही मचाने लगे यह तो इसकी सलाह मान लो। यह जहाँ को भी भेज रही है, वहाँ चले जाओ। वहाँ जाओ, मुँह की खाओ और परेशान हो, नाक कटाओ, मुँह काला करो, वापस आ जाओ। और कोई तरीका नहीं है। या तो इतनी उसमें विनम्रता होती या समझ होती कि वो उपदेश से मान जाती, पर उपदेश तो तुम खुद ही देख रहे हो, और फिर भी वो अकेलापन, सूनापन मानता नहीं। वह कहता है—"चाहिए! चाहिए!" तो ऐसे में मैं कहा कहता हूँ कि उसकी बात मान ही लो। वह तुमसे कह रहा है जाओ कॉमेडी देखो, गाने देखो, सेक्स देखो, जो भी देखने को कह रहा है वह तुम कर ही डालो। फिर भीतर से छूटेगी भभक्ति हुई ग्लानि, खुद ही समझ जाओगे कि समय बर्बाद किया। और फिर अगली बार जब यह अकेलापन आवाज़ दे तो इसकी आवाज़ क्षीण होगी।

आवाज़ तब भी देगा, पर अब उसकी आवाज़ कमजोर होगी। तुम इतनी आसानी से अब उसकी आवाज़ पर विश्वास नहीं करोगे और फिर उसके बाद और क्षीण होगी और क्षीण होगी। फिर शनैः शनैः मिट जाएगी।

हम ऐसे ही हैं! जो उपलब्ध नहीं होता, वह और आकर्षक लगने लगता है। इसीलिए मैं कभी कहता ही नहीं कि किसी भी चीज को आरंभ में ही अपने लिए पूर्णतया वर्जित कर लो। जो तुमने अपने लिए प्रण करके वर्जित कर लिया, वह तुम्हारे चित्त पर अब राज करेगा। वही-वही अब नाचेगा। तुम अपने द्वार सबके लिए खुले रखो, बस भीतर इतनी शुद्धता रखो कि अशुद्धि भीतर न आए। द्वार बिलकुल खुला रखो लेकिन अंदर इतनी सफाई रखो की मक्खी-मच्छर खुले द्वार से भी भीतर अंदर आएँ न।

पारंपरिक रूप से हमने आध्यात्मिक संयम को कुछ और समझा है। पारंपरिक रूप से धार्मिक अनुशासन यही रहा है कि अपने द्वार ही बंद कर लो। शपथ उठा लो कि—भोग की ओर नहीं जाना, विलास की ओर नहीं जाना, मनोरंजन की ओर नहीं जाना, स्त्री की ओर नहीं जाना, पुरुष की ओर नहीं जाना, धन की ओर नहीं जाना, आमोद-प्रमोद की ओर नहीं जाना, इंद्रियगत सुख की ओर नहीं जाना। पचास तरह की वर्जनाएं लगा लो, द्वार बंद कर लो। यही रहा है न पारंपरिक अनुशासन? इस अनुशासन को सफलता नहीं मिलती क्योंकि ये मन के चलन के विपरीत है। जिन्होंने ये अनुशासन दिया और अनुशासन को इस रूप में समझा—वर्जनामूलक बना दिया—वो ये जानते ही नहीं कि मन को जो चीज़ जितनी निषिद्ध होगी, वो चीज़ उसे उतनी ही आकर्षक हो जाएगी।

मैं थोड़ा दूसरी बात कहता हूँ—मैं कहता हूँ खिड़की-दरवाज़े सारे खोल दो और भीतर रहे राम की सुगंध, और अब कहो "आ माया आ"। आमन्त्रण दो उसे, हम तुझे बुला रहे हैं—आ! तुम ये नहीं कह रहे कि हमने अपने दरवाज़े तुझपर बंद कर दिए। तुम उसे सक्रीय रूप से बुलाओ। तुम कहो "तू आ! हिम्मत हो तो आ।" खुद ही नहीं आएगी और आएगी अंदर तो तुम्हारी दासी बनकर आएगी।

जीवन के प्रति दरवाजे बंद क्यों करने हैं? खुले रखो न। और भीतर इतनी निर्मलता, इतनी शुद्धता रखो, सत्य के प्रति इतना प्रेम रखो कि असत्य स्वयं ही भीतर नहीं आए। तुमने उसे नहीं रोका, वो स्वयं ही भीतर नहीं आया। उसके हाथ-पाँव काँप गए। बोला, इतनी साफ़ जगह पर जाऊँगा तो दम तोड़ दूँगा। बिलकुल साफ़ हो घर, मक्खी आकर करेगी क्या अंदर? तुम तो कह रहे हो—आ जा! कह रही है—अरे! छोड़िए न!

कचरा पड़ोस में है। वो पड़ोस में जाएगी, तुम्हारे यहाँ आएगी ही नहीं। अब बादशाह हुए तुम। ये तो घर-घुसनु का लक्षण है कि घर में घुस गए हैं और दरवाज़ा बंद कर लिया है।

कहीं कोई दोष-विकार आक्रमण न कर दे। कहीं माया अपहरण न कर ले जाए हमारा। अरे, डरना क्या? खिड़की दरवाज़े सब खोल के खुल्ला सोओ। उसको बोलो—"आ! तू भी साथ सो!"

आयी ही नहीं। हम तो प्रतीक्षा कर रहे थे। अब न हुई बादशाहत! ये न हुई फ़कीरों, फक्कड़ों वाली बात। ये थोड़े ही न कि अपना कोट-धोती सब बाँध के सोना। बत्तियाँ सब जला के सोना। कॉमेडी ही तो है, क्या बिगाड़ लेगी?
देखते हैं भाई! तुम हमें हँसाना चाहते हो? आओ हँसाओ! ये तो पता नहीं कि हम तुम्हारी बात पर हँसेंगे या नहीं, तुम पर ज़रूर हँसेंगे। तुम्हारी कला में तो ऐसा कुछ नहीं कि हमें हँसी आ जाए लेकिन तुम्हारी नादानी में ऐसा बहुत कुछ है कि हम हँस पड़ेंगे। हमारा बिगाड़ क्या लोगे तुम?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अगर मैं कोई वीडियो देखूँगा जो आवश्यक नहीं है तो वो तो मन की जगह को घेर लेगी न?

आचार्य प्रशांत: ये बात मन को समझा लो न! उत्तम तो यही है कि तुम में इन चीज़ों के प्रति आकर्षण हो ही न। पर अभी मैं उस स्थिति की बात कर रहा हूँ जिसमें ये चीज़ें तुम्हें बीच-बीच में आकर्षक लगती हैं। तुमने अपनी यही हालत बताई न कि मैं इन चीज़ों से अपनेआप को दूर करता हूँ, पर जब दूर करता हूँ तो लोनली हो जाता हूँ। तो मैं उस स्थिति के लिए उत्तर दे रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ—ये बहुत ही खींचे, तो खिंच जाओ। जाओ इनकी ओर लेकिन पूरी सजगता और सतर्कता के साथ। कहो—अच्छा, अब बताओ! क्यों बुला रहे थे? दिखाओ क्या दिखाना चाहते हो? हम देखेंगे।

अगर तुमने वाकई निरपेक्ष होकर सजगता के साथ देख लिया तो अगली बार देखने का मन नहीं करेगा। एक बार देखोगे और कहोगे—देख लिया श्रीमन! देख लिया आप क्या दिखाना चाहते थे। हमें आप बुरे नहीं लग रहे। हमें आप बस बोर कर रहे हो। हमें आपके पास नहीं आना, इसलिए नहीं कि आप बहुत बुरे हो और हमारा कुछ नुकसान कर दोगे। हम आपके पास इसलिए नहीं आना चाहते क्योंकि आप हमें उबाते हो। कुछ नहीं है आपके पास ऐसा जिसमें जीवन हो, सत्य हो, उत्सव हो। ये मुर्दा हँसी है आपकी। ये झूठी हँसी है आपकी। ये हमें उबाऊ लगती है, बोर करती है। हमें वास्तव में मुस्कुराना है। हमें किसी कृष्ण की तरह मुस्कुराना है। हमें ये झूठे हँसी-ठहाकों से क्या मतलब?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, एक और प्रश्न है, मेडिटेशन करता हूँ तो पूरा दिन अच्छा बीतता है जागरूकता में, परंतु उसका अगला ही दिन बेहोशी में चला जाता है। और ऐसा बार-बार हो रहा है।

आचार्य प्रशांत: ‘अच्छा’ से क्या तात्पर्य है तुम्हारा? तुम्हें कैसे पता कोई दिन ‘अच्छा’ बीता है?

प्रश्नकर्ता: वो दिन मैं बहुत ज़्यादा जाकरुक रहता हूँ, सेल्फ-ग्राउंडेड *(स्वयं पर आधारित)* रहता हूँ।

आचार्य प्रशांत: देखो, ‘अच्छे’ का परिणाम ‘बुरा’ नहीं हो सकता है। अच्छे पेड़ पर सड़ा हुआ फल नहीं लग सकता। अच्छे दिन के बाद अनिवार्य रूप से अगर तुम्हारे पास बुरा दिन ही आ रहा है, तो उस अच्छे दिन में ही कोई खोट है। बुरे दिन की बात छोड़ो! अच्छे दिन में ही धाँधली है। जिसको तुम ‘अच्छा’ समझ रहे हो, वो अच्छा नहीं है—इसमें बुराई छुपी हुई है और पोषण पा रही है।

१९. आओ तुम्हें जवानी सिखाएँ

प्रश्नकर्ता: नमस्ते आचार्य जी, "जवानी अकेली दहाड़ती है शेर की तरह"—आपकी यह पंक्ति जब से सुनी है, तब से खुद को युवा कहने में शर्म आती है। मुझ में उत्साह की कमी है। वो धार नहीं है जो इस उम्र में होनी चाहिए। किसी भी कर्म में डूबने की कोई प्रेरणा नहीं है। डॉक्टर से मिलता हूँ तो वो कहते हैं—"दवाई लो"; पर मुझे दवाई नहीं लेना। मैं आपके पास आया हूँ, कृपया मुझे सच्चा यौवन सिखाएँ।

आचार्य प्रशांत: यौवन का क्या अर्थ है? उसी अर्थ से शुरू कर लो जो हम सामान्यतया लेते हैं। जब हम कहते हैं जवानी, या जवान व्यक्ति, तो आंखों के सामने क्या छवि आती है? शारीरिक रूप से जवान कोई व्यक्ति न? बीस या पच्चीस की उम्र का, अट्ठारह या तीस की उम्र का, उसको हम कह देते हैं कि जवान है। है न? जवानी की ख़ासियत क्या होती है? अभी हम जवानी के उसी अर्थ को ले रहे हैं जो सामान्यतया प्रचलित है। उस अर्थ में भी जवानी की ख़ासियत क्या होती है? या विशेष लक्षण क्या होते हैं?

प्रश्नकर्ता: ऊर्जा से भरा हुआ।

आचार्य प्रशांत: ऊर्जा। और? सपने। कहीं पहुंचने की लालसा और प्रीतम के प्रति आकर्षण, जिसको प्रचलित शब्दावली में प्रेम कह दिया जाता है। क्या कह देते हैं—प्रेम। तो प्रेम, ऊर्जा, उमंग, सपने, ये सब लक्षण होते हैं जवानी के—साधारण तौर पर भी। इन्हीं शब्दों को जीवन में और गहराई से ले लो तो जवानी का जो मानसिक या आध्यात्मिक अर्थ है, वो भी स्पष्ट हो जाएगा।

जो शारीरिक रूप से जवान है, उसमें ऊर्जा है भिड़ जाने की, चल लेने की, चुनौतियों को स्वीकार कर लेने की। है न? जो आध्यात्मिक रूप से युवा है, उसमें ऊर्जा है अपने जीवन के बंधनों को काट देने की। जो शारीरिक रूप से युवा है, उसमें आकर्षण होता है दूसरे किसी आकर्षक, सुंदर शरीर के प्रति। जो मानसिक या आध्यात्मिक रूप से युवा है, उसमें

आकर्षण होता है सौंदर्य मात्र के प्रति। वो जो वास्तव में सुंदर है। वो जिसमें शिवत्व है इसलिए सुंदर है—"सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" ।

इसी तरीक़े से—जो शारीरिक रूप से जवान है, आयु से जवान है, उसके पास हम कहते हैं कि सपने हैं। सपनों का क्या अर्थ होता है? कि अभी आस-पास जो दिख रहा है, उससे दूर की, उससे आगे की कोई चीज़। है न? ये जो वर्तमान परिस्थितियाँ हैं, इनसे बेहतर कुछ जब आपकी आँखों में हो तब आपकी आँखों में कहा जाता है कि सपने हैं। है न? इसी तरीक़े से—जो आध्यात्मिक रूप से या मानसिक रूप से जवान आदमी होता है, उसकी आँखों में भी सपने होते हैं पर उसका सपना और आगे का होता है। उसका सपना फिर जो आस-पास दिख रहा है, उससे बस आगे का ही नहीं होता, उससे ऊँचा भी होता है, उससे ऊपर के किसी तल का होता है। तो इसको कहते हैं असली जवानी।

जब आप में सौंदर्य मात्र के प्रति अनुराग जग जाए, जब आप किसी ऐसी सच्चाई के प्रति आकर्षित होने लग जाओ, खिंचने लग जाओ, जो आपको अपने आस-पास कहीं दिखाई न देती हो, जब अपने प्रेम और अपने सपने से निष्ठा करने के लिए आपके पास अदम्य ऊर्जा-उत्साह भी हो, तब आप कहलाते हो कि आप वास्तव में जवान हो गए। ये यौवन का असली अर्थ है।

इस यौवन में और आयुबद्ध शारीरिक जवानी में अंतर क्या है?

अंतर ये है कि जिस यौवन की बात हम कर रहे हैं, वो शरीर पर आश्रित नहीं है, इसीलिए आप आध्यात्मिक रूप से युवा हो सकते हो—किसी भी शारीरिक उम्र में। आप तेरह-चौदाह साल के हो तो भी आप आध्यात्मिक रूप से जवान हो सकते हो, और आप तेरासी-चौरासी साल के हो, तो भी आप आध्यात्मिक रूप से जवान हो सकते हो। शारीरिक उम्र पर जो जवानी आश्रित है, वो तो शरीर के साथ ढल जानी है। और जो जवानी मन की समझदारी से, मन की गहरी प्रेरणा से संबंधित है, वो तो मंज़िल पर पहुँच कर ही दम लेती है। वो कायम रहती है, वो ढलती नहीं जब तक कि उसे उसकी मंज़िल न मिल जाए।

तो एक तरीक़े से अध्यात्म सतत यौवन की कला हुई। अध्यात्म क्या है—लगातार जवान रहने की कला। तब तक जवान रहेंगे जब तक मिलन ही न हो जाए—प्रेम की भाषा में। और तब तक जवान रहेंगे, जब तक मिट ही न जाएँ, महामृत्यु ही न आ जाए, मृत्यु ही न मिल जाए। ये ज्ञान कि या सांख्य की भाषा हुई।

अब कह रहे हो कि जो आम तौर पर जवानी के चिन्ह होते हैं वो अपनेआप में दिखाई नहीं देते, तो अब मुझे साफ बताओ, जवानी चाहिए कौन-सी—शरीर वाली या अंदर वाली?

प्रश्नकर्ता: चाहिए तो अंदर वाली।

आचार्य प्रशांत: हाँ, तो यदि अंदर वाली चाहिए तो उसके लिए तो अंदर का 'हाल' पता होना चाहिए न? दूर का, ऊपर का किसी और तल का सपना तो तब उठेगा न जब भीतर जो है उससे ज़रा-सी वितृष्णा हो। भीतर जो है, जब वो ज़रा पसंद आना कम हो जाए, तब न व्यक्ति कहेगा कि "कुछ और चाहिए"? भीतर का हाल पता हो तो भीतर वाली जवानी अपनेआप पैदा होने लगती है। इसी तरीक़े से अगर साफ दिखाई दे कि जीवन बड़ी कसमसाहट में, बड़े बंधन में बीत रहा है तो अपना जो मुक्त स्वभाव है वो खुद ही फिर तैयार होने लगता है, दहाड़ने लगता है। आंतरिक मांसपेशियाँ मचलने लगती हैं उन बंधनों को तोड़ने के लिए। ऊर्जा स्वतः उठने लगती है।

शरीर से जवान होने के लिए कुछ करना नहीं होता। समय के बहाव में बहना होता है बस। जानवर भी जवान हो जाते हैं। आंतरिक रूप से जवान होने के लिए बड़ी ईमानदारी चाहिए। नहीं तो ये बहुत संभव है कि आप शारीरिक तौर पर बच्चे से जवान हो जाएँ, फिर बूढ़े हो जाएँ, फिर मर भी जाएँ, लेकिन वास्तविक जवानी कभी घटने ही न पाए। शरीर अपनी यात्रा पूरी कर गया, चक्र पूरा घूम आया, और भीतर से क्या रह गए? अविकसित या अर्धविकसित; छौने से ही रह गए। यही ज़्यादातर लोगों का हाल भी तो है न। शरीर कैसा भी हो जाए, हो सकता है अस्सी-नब्बे साल के हो गए हों—भीतर से कैसे रह जाते हैं? वो छौने ही हैं भीतर से। आंतरिक विकास हुआ ही नहीं और तुर्रा ये है कि कहते हैं "देखो हम तो अब बुज़ुर्ग हो गए हैं, हमारी उम्र पिछत्तर की है। चलो हमें सलाम करो, पाँव छुओ।"

जिनकी आँखें हों, उन्हें दिखाई देता है कि वो दिखते पिछत्तर के हैं, अंदर से अभी साढ़े-सात के भी नहीं हैं—दुधमुंहे हैं। अब कैसे इनकी बात मान लें, कैसे इनको सम्मान दे दें? चलो, रस्म-अदाएगी किए देते हैं। शरीर बूढ़ा रहा है तो शरीर का ही चरण-स्पर्श कर लेते हैं। ये हो जाता है फिर। भीतर-ही-भीतर तो पता रहता है कि इनमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो आदरणीय हो, पूजनीय हो।

किसी व्यक्ति में तब ही कुछ आदरणीय, पूजनीय, सम्माननीय होता है जब वो व्यक्ति उसको समर्पित हो गया हो — जो एकमात्र सम्मान और आदर के योग्य है। नहीं तो इंसान कोई कैसे सम्मान का पत्र हो सकता है? इंसान तो हाड़-मास-मिट्टी है। उसमें क्या ऐसा सम्माननीय है? इंसान इज़्ज़त के काबिल तभी बनता है जब इंसान ने अपने से आगे किसी को, किसी ऊँचाई को इज़्ज़त देनी शुरू कर दी हो।

वही आदमी, जो अपने से आगे की किसी ऊँचाई को इज़्ज़त देना शुरू कर देता है—आध्यात्मिक अर्थों में जवान कहलाता है। लेकिन मैं फिर कह रहा हूँ—अपने से आगे को इज़्ज़त देना तभी हो पाएगा जब पता हो कि भीतर बड़ी बेइज्जती का मामला चल रहा है। पहले अपनी नज़रों में थोड़ा गिरना पड़ता है, तब जाकर हस्ती उठती है। जो नाहक ही अपनी नज़रों में बड़े सूरमा, उस्ताद बने बैठे हैं, वो क्यों आध्यात्मिक तल पर कभी उन्नति-

प्रगति, आरोह करेंगे? वो तो अपनी नज़र में पहले ही क्या हैं? बड़े फ़न्ने ख़ाँ हैं। वो कहेंगे —“हमें उठने की ज़रूरत क्या? हम तो ‘उठे’ ही हुए हैं।”

तो पहले अपनी अकड़ को थोड़ा टूटने देना होता है। पहले देखना होता है कि भीतर बड़ा अंधेरा है। जैसे कोई पुरानी सीलन भरी बदबूदार गुफ़ा —बड़ी दुर्गंध उठती है। जब तुम अपने प्रति थोड़ी उपेक्षा, निराशा, वितृष्णा से भर जाते हो, तभी तो अपनेआप को छोड़ पाओगे न? नहीं तो पकड़े ही रहोगे खुद को। और जब मैं ‘खुद’ कह रहा हूँ, और मैं कह रहा हूँ ‘स्वयं को’ पकड़े रहोगे, तो उस ‘स्वयं’ से मेरा आशय क्या है —आत्मा? आत्मा नहीं। वही सब — धूल-कीचड़।

तुमको उठना हो—तो सर को झुकाओ। किसी के सामने मत झुकाओ सर को। कोई ज़रूरी नहीं है कि किसी व्यक्ति के सामने या किसी मूर्ति के सामने या कहीं किसी जगह पर जाकर सर को झुका दिया। लाज में झुका लो भाई —सर को। सच्चाई की अगर यात्रा शुरू कर रहे हो, तो शुरू में ‘लाज’ बड़ी उपयोगी चीज़ है, लज्जा आनी चाहिए। लज्जा ही नहीं आ रही तो फिर तो सब ठीक ही ठीक है न?

बेशर्म लोगों के लिए नहीं है अध्यात्म। बहुत होते हैं मोटी खाल के बेशर्म टट्टू। उन्हें कोई फ़र्क ही नहीं पड़ता। उन्हें दिख रहा होगा कि ज़िंदगी बिलकुल दुर्गंध, मवाद से भरी हुई है, तो भी वो बिलकुल चौढ़ में, ठसक में घूमते हैं। हाँ, हम हैं चौधरी। उनको बताओ कि "तू ग़लत कह रहा है”, वो बोलेंगे—‘तो?’, उनको बताओ कि “तू घटिया आदमी", वो बोलेंगे —‘तो?’। ऐसों के लिए नहीं है अध्यात्म। अध्यात्म उनके लिए है जो बिलकुल संकुचित हो जाते हों। जो स्वयं को देखते हों और लजा जाते हों और फिर उनके भीतर की जवानी कहती हो कि “ऐसे ‘जी’ नहीं सकते—लजाए, लजाए। हमें बेहतर होना होगा, हमें ऊपर उठना होगा, हमें बाहर निकलना होगा। ये कोई तरीक़ा नहीं जीने का।”

कुछ लक्षण समझ लो—अप्रगती के, कुगती या दुर्गति के। कोई तुम्हें तुम्हारी ग़लती दिखाए और तुम्हें बुरा अगर लगता है तो तुम जवान कभी होने से रहे। कोई अगर तुम्हें ग़लती दिखाए और तुम कहो कि “अरे, ग़लती दिखा रहा। हम बड़े आदमी हैं। हमें टोका-टोकी कर रहा है।” तो इसका मतलब ये है कि तुम शिशु ही रह जाने वाले हो। जिसे जवान होना होता है वो अपनी ग़लतियों का सामना करता है। ग़लती माने? छुटपन, विकार, दोष।

इसी तरीक़े से—जो अपने तथ्यों को झुठलाने की आदत रखता हो, वो जवान होने से रहा कि ज़िंदगी में चल कुछ रहा है, वो दूसरों को भी कुछ और बता रहा है और स्वयं को भी कुछ और जता रहा है। ऐसे बहुत लोग होते हैं न? वो कभी मानेंगे ही नहीं कि हकीक़त में चल क्या रहा है ज़िंदगी में। ऐसे लोग भी जीवनपर्यंत शैशवावस्था में ही रहेंगे।

ज़रा दम दिखाओ, ज़रा चोट खाओ। जैसे ही तुम सहर्ष चोट खाने को तैयार हो जाते हो, तुम पाते हो कि ये काम बच्चे का तो है नहीं। क्या हो गए तुम—जवान। और चोट पड़ी नहीं कि बिलबिला उठे, और हाय-हाय करके भागे, तो छुन्नू लाल ही हो—अंगूठा चूसो। बच्चों को तो सुरक्षा दी जाती है, दी जाती है न? कोई बच्चे को मार भी दे तो फिर उसे ताना मारा जाता है, कि "क्या बच्चे पर हाथ उठता है? आ हमारा सामना कर!" बच्चे को क्या दी जाती है—सुरक्षा। तुम अगर ऐसे हो कि ज़िंदगी में जहाँ जाओ, सुरक्षा ही माँगते रहो, तो अच्छे से समझ लो क्या हो अभी? बच्चे। जवान आदमी सुरक्षा माँगता नहीं है, वो सुरक्षा देता है। वो कहता है—"हमारा जो होगा-सो-होगा, लेकिन अभी धर्म ये है कि तुम हमारी पनाह में आ जाओ। हमपर जो आएगी, झेल लेंगे।"

पूछो अपनेआप से, ईमानदारी से, सुरक्षा कितनी प्यारी है तुमको। और सुरक्षा कई तरह की होती है। सुरक्षा यही नहीं कि शरीर पर चोट लग गई, इज़्ज़त पर चोट लग गई, ये भी तो वही है, बदनामी हो जाएगी, लोग क्या कहेंगे। इसी तरीक़े से इन्द्रियों पर चलना किसका काम होता है? कि खिलौना दिखा और मचल गए। ये कौन करता है? बच्चे करते हैं। तुम्हें भी अगर खिलौना दिखता है और मचल जाते हो तो काहे अपनेआप को जवान बोलते हो?

बच्चा इन्द्रियों पर जीता है। थोड़ा बड़ा होता है, किशोरावस्था आती है तो 'मन' पर जीता है, वो 'मनचला' हो जाता है। और आध्यात्मिक अर्थों में जवान वो है जो न इन्द्रियों पर न मन पर बल्कि आत्मा में जीता है —आत्मस्थ रहता है। वो धर्म का पालन करता है। वो कहता है—इन्द्रियाँ किधर को खींच रही हैं, हमें नहीं जाना। मन किधर को फिसला रहा है, रपटा रहा है, हमें नहीं जाना। हम अपना धर्म जानते हैं, हम उसपर चलेंगे। पूछो अपनेआप से—खिलौनों के नचाए नाचते हो, मन के चलाए भागते हो, या अपना धर्म और अपना कर्तव्य जानते हो, उसकी पूर्ति करते हो? अगर इन्द्रियों और मन की ही कतपुटली हो अभी, तो फिर यही भाग्य रहेगा तुम्हारा कि किसी की गोदी में नज़र आओगे हमेशा।

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, मैं हमेशा से जीवन के प्रति उदासीन रहता हूँ, पर जैसा कि आपने कहा—"खिलौना दिखता है तो मचल जाते हैं", तो वही होता है मेरे साथ। जब कुछ बड़ा दिखता नहीं है तो ऐसे छोटे-मोटे सुखों की तरफ़ खिंचा जाता हूँ। इससे खुद के प्रति निराशा होती है लेकिन सुखों के साथ समझौता करना,और उसके लिए बल प्रयोग करूँ तो लगता है कि एक तरह का दमन है।

आचार्य प्रशांत: तुम कह रहे हो कुछ बड़ा दिखता नहीं है इसलिए तुम खिलौनों की ओर आकर्षित हो जाते हो। यही कहा न? फिर पूछ रहे हो कि अब खिलौनों की ओर न जाऊँ तो क्या इसके लिए बल प्रयोग करूँ, दमन करूँ। इतनी लंबी कहानी कहने की ज़रूरत क्या है? कहानी शुरू यहाँ से हो रही है कि तुमने कहा कि बड़ा कुछ दिखता नहीं है, इसीलिए छोटे-छोटे खिलौनों की ओर भगते हो। बड़ा क्या होता है? बड़ा माने क्या? बहुत बड़ी गेंद?

बहुत बड़ा पहाड़? बहुत बड़ी थाली? बड़ा क्या होता है? अध्यात्म में बड़े का अर्थ क्या होता है? अध्यात्म में बड़े का अर्थ होता है वो जो छोटा नहीं है।

कल मैं क्या कह रहा था, अध्यात्म की भाषा हमेशा कैसी होती है? नकारात्मक। तो जब कहा जाए कि विराट, अनंत, तो उसका कोई सकारात्मक या विधायक अर्थ मत लगा लीजिएगा। जब भी कहा जाए कि अध्यात्म का मतलब है विराट की ओर गति, तो मतलब ये नहीं है कि अध्यात्म का मतलब है—हिमालय में चढ़ गए, वही तो विराट दिखाई देता है। नकार की भाषा में उसका मतलब हुआ—अपने भीतर जो कुछ छोटा है, उसको पहचानना और पहचानकर उसको त्यागना।

कह रहे हो— “बड़ा कुछ दिखाई नहीं देता”, अरे, छोटा दिखाई देता है कि नहीं? कहाँ है सारी क्षुद्रता, छुटपन? कहाँ है? कहाँ है वो? दिखती है? ईमानदारी से साफ-साफ दिखती है?

प्रश्नकर्ता: हाँ।

आचार्य प्रशांत: हाँ, उसी को देखना आवश्यक है। बड़ा नहीं कुछ देखना होता। अगर वो साफ-साफ दिखती है बेटा, तो उसको देखने के बाद भी तुम झुनझुने की ओर कैसे मचल जाते हो? कह रहे हो—“बड़ा कुछ दिखाई नहीं देता तो हम खिलौनों की ओर भागते हैं”। फिर अब बात पलट कर कह रहे हो कि “नहीं, अपने भीतर का छुटपन तो दिखाई देता है”। अपने भीतर का जब छुटपन दिखाई देता है तो मैंने थोड़ी देर पहले कहा—बड़ी लाज आनी चाहिए। जो लाज में गड़ा हुआ होगा वो झुनझुना माँगेगा? वो खिलौनों की तरफ़ जाने की धृष्टता करेगा? वो तो कहेगा—“खिलौने गए भाड़ में, मैं कलुष में गड़ा हुआ हूँ, मुझपर बड़ा कलंक है। मैं कीचड़ में धँसा हुआ हूँ।” कीचड़ में जो धँसा हुआ हो वो खिलौना माँगेगा क्या? और अगर खिलौना तुम माँग रहे हो तो इसका मतलब तुम्हें अभी ज़रा भी होश ही नहीं है कि कीचड़ में धँसे हुए हो। शुरुआत तो हमेशा अपनी दुर्गति को देखने से ही होगी न? अगर अपनी दुर्गति को तुम मान्यता ही नहीं दे रहे हो, नकारे ही जा रहे हो, मान ही नहीं रहे हो कि हालत बहुत ख़राब है, तुम्हें अपने ऊपर बड़ा गर्व-गौरव ही है, अपने क़िस्से तुम बड़े दर्प के साथ सुनाते हो—“मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मुझमें ये ख़ूबी है, मुझमें ये ख़ासियत है”, तो तुम क्यों अपनी ज़िंदगी बदलोगे? या बदलोगे?

आप सभी लोग यहाँ बैठे हैं। मैं समझता हूँ कुछ बदलाव के इच्छुक हैं। बदलाव क्यों आए अगर आप अपनी ज़िंदगी को देखें और पाएँ कि यदि आपको कोई अजनबी मिलता हो तो उसके सामने अपनी कहानी आप बड़े गौरव से बघारते हैं—और हम आम तौर पर ऐसा करते हैं या नहीं करते हैं? तो इसका मतलब क्या है? कि खुद को लेकर हमारे भीतर बढ़िया संतोष है। हम ख़फ़ा नहीं हैं खुद से। जो खुद से ख़फ़ा नहीं हो सकता, उसके लिए अध्यात्म कैसा?

बाइबल में जीज़स ने एक बड़ी विचित्र बात कही है। अभी जो हम चर्चा कर रहे हैं, उसके संदर्भ में आपको समझ आ जाएगी। वो कहते हैं—"जो अपनी ज़िंदगी से नफ़रत नहीं करता, वो मेरे पास न आए"। क्या कहते हैं? "जो अपनी ज़िंदगी से नफ़रत ही न करता हो, वो मेरे पास आए ही नहीं"। और हमें तो अपनी ज़िंदगी पर बड़ा गौरव है। बड़े गुरूर से हम भरे रहते हैं कि नहीं—"अजी साहब, हम हैं"। कोई मिल जाता है तो उसको अपने पुराने एलबम दिखाते हैं। तुम्हें अगर वाकई अपनी ज़िंदगी से नफ़रत होगी, तो तुम पुराने एलबम बचाकर रखोगे या उनपर राख डाल दोगे? बोलो जल्दी।

पर हम तो... बड़ी दिक्कत हो जाती है न। पुराने एलबम पर राख कैसे डालोगे क्योंकि जो पुराना किस्सा था वो आज भी चल रहा है। एलबम पर राख डाल दी तो अभी जैसी ज़िंदगी चल रही है उसमें से भी बहुत कुछ बदलना पड़ेगा, त्यागना पड़ेगा। उतना साहस, उतनी जवानी हम में होती ही नहीं। तो फिर पुराना भी जो कुछ होता है हम उनपर झूठा गौरव किए जाते हैं। सब में ये वृत्ति होती है न, खुद को जायज़ ठहराने की? होती है कि नहीं? सबको बुरा लगता है न, जब उनकी बात काटी जाए या झूठी साबित हो जाए या उनको टोक दिया जाए। अब तुम समझ रहे हो ये वृत्ति किस तरफ़ इशारा कर रही है? वो इसी तरफ़ इशारा कर रही है—हम बदलाव चाहते ही नहीं। अगर हम काट दिए गए, अगर हमें टोक दिया गया, अगर हमें ग़लत साबित कर दिया गया, तो फिर तो हमें मजबूर होकर बदलना पड़ेगा न। "भई, अगर तुम ग़लत हो तो बदलो", बदलना हमें है नहीं, क्योंकि बदलने के लिए क्या चाहिए—एक जवान छाती। वो हमारे पास है नहीं। उतना साहस और उतनी निर्लिप्तता हम दिखा नहीं पाते। तो फिर हम एक सस्ता तरीक़ा पकड़ते हैं कि हम जैसे हैं, जो कुछ भी हैं, उसी को सही और जायज़ ठहराते चलें ताकि बदलाव की नौबत ही न आए।

प्रश्नकर्ता: आपने अभी कहा कि जिसमें सच्चाई और यौवन है, उसको हमेशा सही के और धर्म के रास्ते पर चलना चाहिए।

आचार्य प्रशांत: चलना 'चाहिए' नहीं, ये कोई ट्रैफिक पुलिस के दिशा-निर्देश थोड़े ही हैं कि आपको साठ की गति के नीचे ही चलना चाहिए। ये 'चाहिए' वाली भाषा अध्यात्म में नहीं होती। वो भाषा संस्कार-शास्त्र में होती है। वो भाषा नैतिकता के ग्रंथों में होती है। चलना 'चाहिए' नहीं, वो 'चलेगा'। मैं तुमसे कहूँ, तुम्हें अपनी माँ से प्रेम करना चाहिए तो सुनने में कैसी लगेगी ये बात? ये कोई ज़बरदस्ती की चीज़ है क्या कि करनी 'चाहिए', ये कोई सिखाने वाली चीज़ है क्या कि करनी 'चाहिए'—ये तो होगा, अगर इंसान हो तो ये तो होगा। याकि आचार्य जी यहाँ बैठकर शिक्षा दे रहे हैं—"सुनो सब, अपने प्रियवर से प्रेम करना चाहिए"। और फिर विधि भी बता रहे हैं प्रेम करने की।

'चाहिए' नहीं होता है, अगर जवान हो तो वो 'होगा'।

प्रश्नकर्ता: अगर हम सच्चे जवान हैं, सच्चे यौवन हैं, तो हम धर्म के रास्ते पर जाएँगे ही?

आचार्य प्रशांत: जाना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता: हम करेंगे। फिर भी कभी-कभी अधर्म का जो रास्ता है, वो आकर्षित करता है।

आचार्य प्रशांत: बच्चे को खिलौना आकर्षित करता है।

प्रश्नकर्ता: क्या उस अधर्म के रास्ते की उपेक्षा करके भी हम धर्म पर चल रहे हैं?

आचार्य प्रशांत: तुम पूछना चाहते हो—उपेक्षा करके क्या हमें धर्म पर चलना चाहिए?

प्रश्नकर्ता: मतलब उपेक्षा करते-करते क्या एक समय ऐसा आएगा कि अधर्म आकर्षित करना छोड़ देगा?

आचार्य प्रशांत: सिखाया नहीं जा सकता। वो छोड़ ही दे, अगर तुम फ़ैसला कर लो थोड़े ख़तरे उठाने के। बात तुम्हारी नीयत, तुम्हारे फ़ैसले की है। बच्चा बने रहने में बड़ी सुख है, सुविधा है, और एक और शब्द है "स" से, जिसकी थोड़ी देर पहले चर्चा करी थी—"सुरक्षा" है। अभ्यस्त हो गए हो अगर तुम सुविधा और सुरक्षा में ही जीने के, तो तुम जवानी के ख़तरे उठाओगे क्यों? जवानी माने ज़िम्मेदारी होता है। हमने कहा था न—बच्चे को तो सब सुरक्षा देते हैं और जो जवान आदमी होता है, वो किसी की सुरक्षा लेता नहीं है। वो अपना दायित्व निभाता है। वो सुरक्षा देता है। तो जवानी ज़िम्मेदारी का काम होती है और ज़िम्मेदारी उठाने में तो बहुत लोगों को बड़ा आलस आता है, बड़ा ख़तरा लगता है। तो फिर तय करते हैं कि चलो बच्चे ही बने रहते हैं।

प्रश्नकर्ता: तो उपेक्षा हम करते रहें?

आचार्य प्रशांत: हमें अपेक्षा करती रहनी "चाहिए"। *(व्यंगात्मक तौर से प्रश्नकर्ता के प्रश्न को दोहराते हुए)* तुम वो मन छोड़ ही नहीं पा रहे हो जो निर्देशों पर चलता है। प्रेम किसी के निर्देश पर किया जाता है क्या? तो वैसे ही 'अध्यात्म' प्रेम ही है। वो प्रेम से और ऊँचा प्रेम है —महा-प्रेम है। किसी के निर्देश पर थोड़े ही हो सकता है। ये थोड़े ही हो सकता है कि सामने बैठे हुए हैं गुरू जी और गुरू जी ने कहा—"चलो, मुक्त हो जाओ। तुम्हें मुक्त होना 'चाहिए'।" तुमने कहा—"ठीक है। महाराज जी की आज्ञा है, मुक्त होना 'चाहिए', तो हम मुक्त हो जाएँगे।" ये आज्ञा-पालन की चीज़ें थोड़े ही होती हैं भई, ये तो दिल की बात है भई, आशिकी है। ये किसी की आज्ञा पूरी करने के लिए, हुकुम बजाने के लिए थोड़े ही होते हैं ये काम।

ये तो वो है — जो लगाए न लगे, बुझाए न बुझे। ये थोड़े ही तुम कहोगे कि आग का दरिया है, क्या पार करना 'चाहिए'? वो तो पार तब होता है जब कोई लाख रोक रहा हो तो भी

तुम कूद पड़ो। तुम अनुमति ही लेते रहोगे, सलाह लेते रहोगे और निर्देश माँगते रहोगे तो फिर तो तर चुके। इससे मुझे क्या समझना चाहिए?

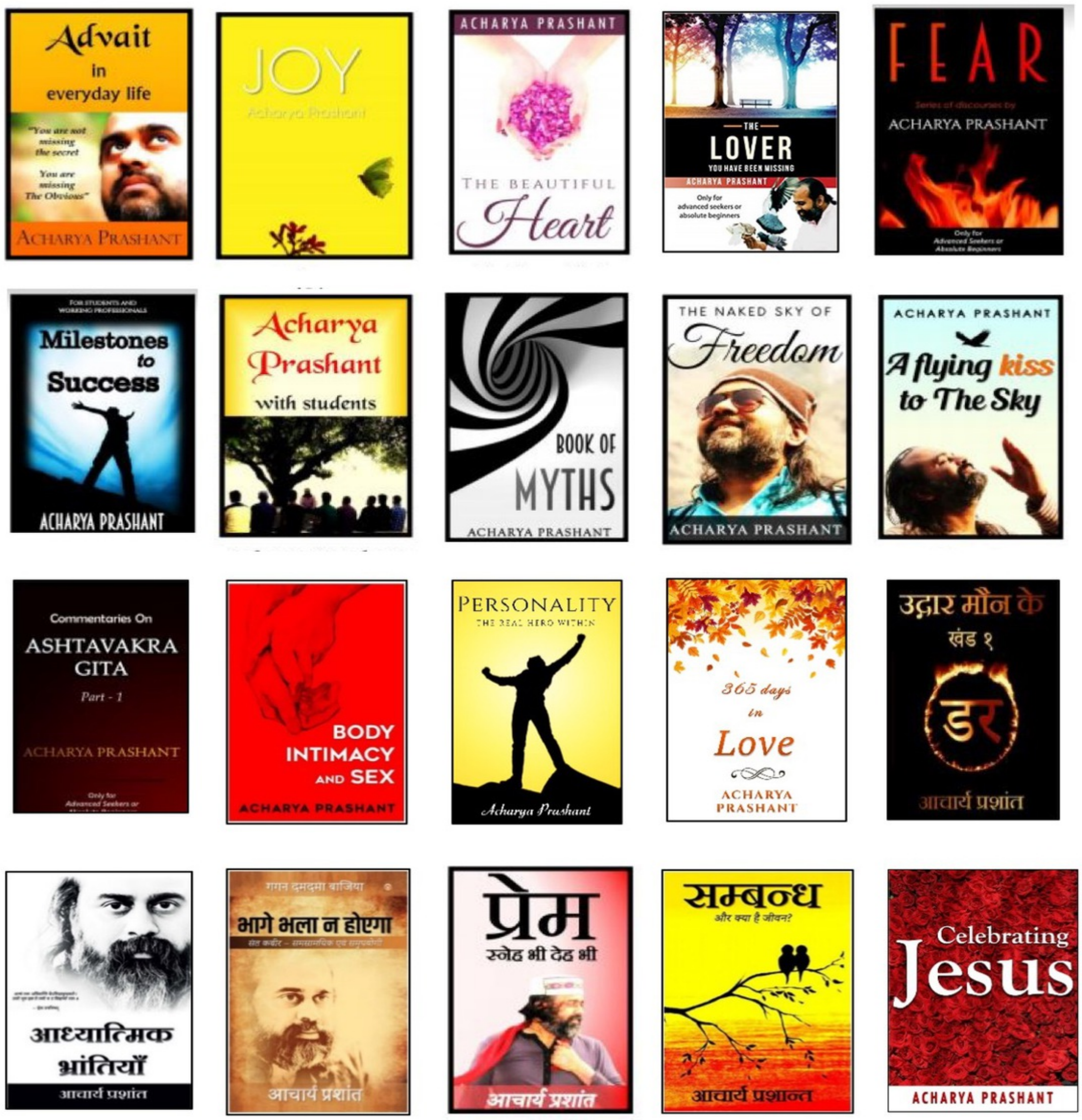
प्रश्नकर्ता: तो जो त्याग करेंगे हम चीज़ों का, जिसे हम छोटा मानते हैं, उस त्याग करने में निश्चय होना चाहिए।

आचार्य प्रशांत: घिन आनी चाहिए। निश्चय क्या होना चाहिए? हाथ में कीचड़ लग गया, मल, टट्टी लग गई तो धोने के लिए निश्चय चाहिए होता है? क्या चाहिए होता है? घिन। अध्यात्म उनके लिए है जो खुद को आईने में देखें और उन्हें घिन आए। और घिन नहीं आ रही है, बड़ी खूबसूरती जान पड़ रही है—"आ हा हा हा हा, हम ही तो हैं, आ हा हा..." तो फिर करोगे क्या अध्यात्म का? तुम तो खुशबूदार तेल लगाओ, चौराहे पर जाओ, और अपनी नुमाइश दिखाओ, तुम्हें तो बड़ा नाज़ है खुद पर।

अब एक अजीब बात हो गई है क्योंकि आम तौर पर अध्यात्म की भाषा में ये सब शब्द होते ही नहीं हैं कि 'घिनाओ', 'लजाओ'—ये आचार्य जी कौन सा अध्यात्म बताते हैं! किस ग्रंथ में लिखा है कि घिनाना चाहिए, लजाना चाहिए!

वो हम नहीं जानते, पर जो बात है, वो असली बता दी।

आचार्य प्रशांत की पुस्तकें



Flipkart
amazon
kindle

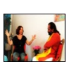
अधिक जानकारी हेतु: acharyaprashant.org

आचार्य प्रशांत से सर्वाधिक लाभान्वित वर्ग



पशुः सभी प्रकार के जीवों के लिए सबसे बड़ा खतरा मनुष्य की संसार और स्वयं के प्रति अनभिज्ञता है, अतः मनुष्य की चेतना में सुधार करना सब जीवों की रक्षा का सबसे अच्छा तरीका है। अनुमानित है कि आचार्य प्रशांत की शिक्षाओं के फलस्वरूप लाखों पशु - विशेष रूप से माँस के लिए मारे जाने बकरी, भेड़, गाय, भैंस, मछली, मुर्गे आदि - प्राणदान पा चुके हैं। इनके अलावा बड़ी संख्या में जंगली जानवरों की भी रक्षा हुई है। आचार्य जी के अथक प्रयासों के फलस्वरूप लाखों लोगों शाकाहारी या वीगन हुए हैं, और उन्होंने एक जागृत जीवनशैली को चुना है जिसमें पर्यावरण चेतना और न्यूनतम कार्बन उत्सर्जन शामिल हैं। कई लोग आचार्य जी को वीगन आंदोलन के आध्यात्मिक चेहरे के रूप में भी देखते हैं।

युवाः हमारे युवाजन अपनेआप को अक्सर जीवन के चौराहों पर पाते हैं। वे  परिवार, समाज, शिक्षा, मीडिया, कैरियर की चुनौतियां, प्रेम और रिश्तों से संबंधित दुविधाओं और जीवन के अर्थ और उद्देश्य के बारे में गहरे अस्तित्वगत सवालों से आने वाली बहु-दिशात्मक चुनौतियों का सामना करते हैं। वे एक संवेदनशील स्थिति में होते हैं, जहां भ्रमवश गलत निर्णय लेने और अस्वस्थ जीवन में फँस जाने की काफ़ी संभावना रहती है। आचार्य प्रशांत युवाओं की ऊर्जा और संघर्ष को संबोधित करने में अद्वितीय रहे हैं। ऐसे अनगिनत युवा हैं जो जीवन के महत्वपूर्ण बिंदुओं पर स्पष्टता के साथ निर्णय लेने के लिए आजीवन उनके ऋणी रहेंगे।



महिलाएँः दुनियाभर में और विशेष रूप से भारत में महिलाओं को मानव जाति के अशक्त भाग के रूप में जाना जाता है। आधुनिक समय में यद्यपि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तरीकों से महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए ठोस प्रयास किए गए हैं, फिर भी स्पष्टता और स्वतंत्रता के आंतरिक आयाम के बिना वास्तव में कुछ भी प्रभावी नहीं है। आचार्य प्रशांत का काम शरीर की वृत्तियों और मन के संस्कारों से

परे व्यक्ति की वास्तविक पहचान को जगाना है। आज अनगिनत महिलाएं - किशोरी छात्राओं से लेकर सत्तर वर्षीय गृहणियों तक - अपनी स्वतंत्रता, जीवन में आयी स्पष्टता,और बाहरी उत्पीड़न व आंतरिक दुर्बलता के खिलाफ उठ पाने के साहस के लिए गुरु की शिक्षाओं के प्रति अनुगृहीत हैं।

आध्यात्मिक साधक: कुछ आध्यात्मिक साधकों के लिए आध्यात्मिकता या  तो मनोरंजन है, या मध्यकालीन अंधविश्वासों का एक सम्मानजनक नाम, या जीवन की वास्तविकताओं से बचकर भागने का उपाय, या मात्र कुछ गूढ़ क्रियाएँ और विधियाँ। वे गहरी अंतर्निहित जीवन समस्याओं के लिए केवल सतही उपचार चाहते हैं। आचार्य प्रशांत ऐसे साधकों की जड़ मानसिक धारणाओं को खंडित करने के लिए खासे विख्यात हैं। और दूसरी तरफ हैं कुछ वास्तविक खोजी जो जीवन की वास्तविकता को जानने और अपनी मुक्ति के लिए कड़ी मेहनत करने को तैयार हैं। जो साधक स्व-रचित बंधनों से तंग आकर अपनी स्वतंत्रता की पूर्ण कीमत चुकाने के लिए आतुर हैं, आचार्य प्रशांत उनके लिए एक अतिदुर्लभ और वास्तविक मित्र हैं।

आचार्य प्रशांत से जुड़ने हेतु



आचार्य प्रशांत से जुड़ने हेतु सभी जानकारी आपको इस वेबसाइट पर उपलब्ध हो जाएगी

acharyaprashant.org

आचार्य प्रशांत की अन्य पुस्तकें